योग सिद्धान्तों और क्रियाओं का प्रतिपादक मासिक

# सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 29

दिसम्बर 1996

अंक : 6

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० रामलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
श्री गोविन्द सोनी
ब्र० राजेश चन्द्र शर्मा

सितम्बर १९९६

## इस अंक में पढ़िए


❁ मनसि शंकरसम्भिवेशम् .... १

❁ योगी की अचिन्त्य शक्ति (विशेष लेख) .... २
—योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❁ गीता में प्रतिपादित "लोक संग्रह" हेतु कर्म की यथार्थता तथा आज के परिदृश्य में इसकी उपादेयता .... ६
—श्री डा० जयनारायन राय, बी०एम०एस०; एम०ए०, शास्त्री

❁ कुण्डलिनी पथ—योगी की अन्तर्यात्रा .... १२
—श्रीमति कविता शर्मा

❁ गुरुपूर्णिमा .... १८
—श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

❁ श्री गुरुपूर्णिमा (कविता) .... २२
—श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल

❁ साधना और सिद्धि .... २३
—स्वामी श्री असंगानन्दजी महाराज

❁ प्राणशक्ति और मनःशक्ति का साधन .... २७
—स्वामी श्री विभूतानन्द जी महाराज

❁ संस्कारों को दूर करने के उपाय .... ३०
—श्री मेहेर बाबा

❁ कर्त्तव्य-पालन से मुक्ति .... ३३
—श्री जयदयाल गोयन्दका

❁ सन्त-महिमा (तत्त्व चिन्तामणि से साभार) .... ३६

❁ आश्रम समाचार टाइटिल पृष्ठ ३
—श्री अवनीश कुमार भटनागर



वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

# सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २९
अङ्क ६

सितम्बर
१९९६

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं यत्र सद्ध स्वभावम्,
मर्त्योमृत्योर्न च निवसतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तस्मात्प्रार्थ्यन्ते बहुतर विपदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः॥

## मनसि शंकरमम्बिकेशम्

आद्यन्तमङ्गलमजातसमानभावमार्यं तमीशमजरामरमात्मदेवम्।
पञ्चाननं प्रबलपञ्चविनोदशीलं सम्भावये मनसि शंकरमम्बिकेशम्॥

अर्थात्

जो आदि और अन्त में (तथा मध्य में भी) नित्य मङ्गलमय है। जिनकी समानता अथवा तुलना कहीं भी नहीं है, जो आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले देवता (परमात्मा) हैं, जिनके पाँच मुख हैं, और जो खेल-ही-खेल में—अनायास जगत् की रचना, पालन और संहार तथा अनुग्रह एवम् तिरोभाव रूप पाँच प्रबल कर्म करते रहते हैं, उन सर्वश्रेष्ठ अजर-अमर ईश्वर अम्बिकापति भगवान शङ्कर का मैं मन-ही-मन चिन्तन करता हूँ।

(श्री शिवपुराण से)

विशेष लेख :—

# ★ योगी की अचिंत्य शक्ति ★

❀ योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रस्तुत लेख के विषयानुसार योगी की शक्ति का वर्णन करना सहज वस्तु नहीं है, किन्तु फिर भी पाठकों की योग जिज्ञासा बढ़े, इस बात को दृष्टि में रखते हुए मैंने इस लेख में योगी की क्या ताकत हुआ करती है उस पर यत्किञ्चित प्रकाश डालने का प्रयास किया है। अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का परिचय देते हुए निम्नांकित श्लोक में कहा है जिसको पढ़कर के हर व्यक्ति यह समझ सकेगा कि योगी की सीमा कहाँ तक है—

**ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥** (गीता ६/८)

अर्थात् युक्त योगी वह कहलाता है कि जिसका हृदय ज्ञान और विज्ञान से परिपूर्ण हो चुका हो और जिसने विकार रहित स्थिति उपलब्ध करली है। जिसके लिये लोहा, पत्थर, सोना सब एक समान है। ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ करके संयमी विधि से उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाला योगी ज्ञान तृप्तात्मा एवं जिसने पूर्ण आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह विज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। और कभी भी जिसको कामादि नहीं सताते है अर्थात् विकार वाली स्थिति से आगे निकल जाता है ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। श्लोक के अर्थानुसार योगियों के इस प्रकार के इतिहास मिलते हैं, जिन्होंने पूर्णता को पाकर के लोहा, सोना, पत्थर और मिट्टी को बराबर समझा। श्री गोरखनाथ जी का यह उदाहरण यहाँ पर परिपूर्ण से लागू होता है। जबकि वह अपने गुरुदेव को संगलद्वीप से ले आने के लिये छद्म-वेष में संगलद्वीप गये और अपने गुरुदेव श्री मत्स्येन्द्रनाथ को साथ लौटा लाये थे। जिस समय श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी संगलद्वीप से श्री गोरखनाथ जी की प्रेरणानुसार चले थे तो उन्होंने कुछ अर्थाभाव को दूर करने की इच्छा से दो सोने की ईंटें अपने साथ रख ली थी, जिसके परिणामस्वरूप वह हर समय चिन्तित रहा करते थे कि इनको कोई चुरा न ले जावे, किन्तु जिस समय श्री गोरखनाथ जी ने इस रहस्य को जाना तो उन्होंने वह दोनों सोने की ईंटें उठाकर कुएँ में डाल दीं और आगे को चल पड़े। थोड़ा समय व्यतीत हो जाने के बाद मार्ग चलते हुए जिस समय श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी ने अपनी सोने की ईंटों को नहीं पाया तो वह बड़े क्लेषित हुए। श्री गोरखनाथ ने अपने गुरुदेव के मन की चिन्ता को जानकर हँसकर कहा, गुरुदेव आप क्यों चिन्तित हैं, उन्होंने सत्य-सत्य कारण बतला दिया, इस पर श्री गोरखनाथ जी हँसे और अपने गुरुदेव श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी से बोले—महाराज आप सोने

की दो ईंटों की क्यों चिन्ता करते हैं, यह देखो यह पत्थर सोने का है। यह कहकर उन्होंने एक बड़ी भारी चट्टान पर मूत्र त्याग किया तो वह सारी चट्टान तत्क्षण सोने की बन गई। इस आश्चर्य को देखकर मत्स्येन्द्रनाथ समझ गये कि गोरखनाथ की कितनी बड़ी शक्ति है। योगी जिस समय षट्चक्रों पर संयम करता हुआ चलता है और वह मणिपूरक चक्र में पहुँचता है और वहां संयम करता है तो उस चक्र के ध्यान का जो फल मिलता है उसका वर्णन भगवान शिव ने 'शिव संहिता' में इस प्रकार किया है—

**तस्मिन् ध्यानं सदा, योगी करोति मणिपूरके।**
**तस्य पाताल सिद्धिः, स्यान्निरन्तर सुखावहा॥**
**ईप्सितं च भवेल्लोके, दुःख रोग विनाशनम्।**
**कालस्य वञ्चनं चापि, परदेह प्रवेशनम्॥**
**जाम्बूनदादि करणं, सिद्धानां दर्शन भवेत्।**
**औषधि दर्शनं चापि, निधिनां दर्शन भवेत्॥**

अर्थात् उस पवित्र मणिपूरक चक्र में जो योगी ध्यान करता है उसको पाताल सिद्धि अर्थात् पाताल प्रवेश करने की ताकत प्राप्त हो जाती है और संसार के रहते हुए जिस कामना की वह चिन्ता करता है वह ईप्सित पदार्थ उसको अवश्य प्राप्त होता है। उसके सब प्रकार के दुःखों का स्वाभाविक नाश हो जाता है, अर्थात् उस योगी पर काल का अधिकार नहीं रहता। परदेह में प्रवेश करना और दिव्य औषधियों का ज्ञान, निधि दर्शन और सोना बनाने की ताकत उसको सहज भाव से प्राप्त होती है। यदि वह योगी शीघ्र संकल्प करे तो जहां पर मिट्टी या पत्थर पर मूत्रोत्सर्ग करेगा तो वह पत्थर आदि अवश्य सोना बन जायेगा। अतः अपने गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ को भ्रमित समझकर अपनी उस विपुल शक्ति का प्रयोगात्मक रूप श्री गोरखनाथ जी ने तत्काल करके दिखा दिया। योगी की कितनी बड़ी सामर्थ्य होती है इसका योगदर्शन के एक सूत्र में बहुत बड़ा संकेत है। जहां पर योगदर्शन के विभूतिपाद में समाधि प्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं। वहां पर "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" अर्थात् ईश्वर के आत्म निवेदन करने से भी मनुष्य को सच्ची जिज्ञासा के साथ समाधि अवश्य प्राप्त होती है। जब इस सूत्र की रचना भगवान पतञ्जलिदेव ने की तो उस समय पातञ्जलि सिद्धान्त को समझने वाले सभी जिज्ञासुओं को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उन्होंने तत्काल सवाल कर दिया—

**प्रधानपुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति।**

अर्थात् अभी तक तो योगदर्शन में प्रकृति और पुरुष का ही वर्णन था और प्रकृति पुरुष विवेक ही योगदर्शन का उच्चतम लक्ष्य था। किन्तु यहां पर समाधि प्राप्ति के लिए ईश्वर भक्ति भी एक साधन है। यह सुनकर उसको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उसने बड़ी जल्दी यह कह दिया कि प्रकृति पुरुष से न्यारी यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु कौन है तो भगवान पतञ्जलि देव ने जवाब दिया—

**क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।**

अर्थात् जो कभी भी कर्म विशेष विपाक आदि से छुआ नहीं गया है, उस ही पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। सुनने वाले जिज्ञासु ने उसी समय कहा ठीक है—

**कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ।**

जिज्ञासु ने कहा—बहुत से कैवली लोग इस प्रकार के हैं जो विविध प्रकार की साधना करते हुए कैवल्य लाभ कर चुके हैं और उनके अन्दर भी कोई कर्म विशेष विपाकादि नहीं है। इसीलिये वह सभी ईश्वर हैं। इसके उत्तर में पतञ्जलि देव योगदर्शन पर भाष्य लिखने वाले भगवान व्यासदेव ने अपना यह कहकर पीछा छुड़ाया कि भाई बात तो तुम्हारी ठीक है किन्तु एक अन्तर अवश्य है—

**तेहित्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः**
**ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी ।**

अर्थात् वे सारे के सारे कैवली लोग तीन बन्धनों को काटकर कैवल्य को प्राप्त हुए और ईश्वर कभी तीनों बन्धनों के अन्दर न कभी था और न आगे होगा। इस प्रकार से योगी की उत्कृष्ट ताकत का अनुमान स्पष्टतया लगाया जा सकता है कि योगी पूर्णरूपेण ईश्वरीय ताकतों से परिपूर्ण हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। यदि ईश्वर में और उसमें कोई भेद मान लिया जावे तो वह केवल मात्र इतना ही रहेगा कि वह साधन करके उस कोटि को प्राप्त हुआ है बाकी क्लेश कर्म आदि उसके उसी प्रकार छूट गये हैं जिस प्रकार ईश्वर के अन्दर कर्म विपाक आदि नहीं हुआ करते हैं। जिस प्रकार घड़े में रहने वाले आकाश को लोग तब तक घटाकाश कहते हैं जब तक घड़ा टूट कर वह आकाश महा-आकाश का रूप धारण नहीं कर लेता।

उपनिषदों में योगी की अद्भुत शक्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

**अचिन्त्य शक्तिमान्योगी नानारूपाणि धारयेत ।**
**संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ।।**
**नासौ मरण माप्नोति पुनर्योग बलेन तु ।**
**हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।**
**मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति ।**
**यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ मृत एव वै ।।**
**कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।**
**जीवन्मुक्तः सदा सदा स्वच्छः सर्वदोष विवर्जितः ।।**

अर्थात्, जिस योगी ने सम्प्रज्ञात योग की भूमिकाओं में संयम करते हुए अपने मन पर पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त कर लिया है उसकी शक्ति अचिन्त्य हो जाती है। वह चाहे तो हजारों शरीर एक साथ धारण कर ले और फिर उनका संहार भी कर ले। जिसने

अपने आपको हठयोग की साधना के द्वारा मार लिया है वह योगी अमर हो जाता है। जहाँ पर संसार के प्राणियों की मृत्यु होती है वहाँ पर वह अमर रहता है और जहाँ जिन विषयों के अन्दर से लोग जिन्दा रहते हैं उन विषयों को वह छूता तक नहीं, उन विषयों में वह मृत की तरह रहता है। क्योंकि उसने अपने आप पर पूर्ण वशीकार प्राप्त कर लिया है। इसलिये इच्छा रूप होकर के तीनों लोकों में जहाँ-तहाँ विचरा करता है। उपरोक्त श्लोक के अन्दर योगी की शक्ति का बहुत बड़ा वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्णजी ने श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध में उद्धव को उपदेश देते हुए अपनी अष्टादश सिद्धियों का वर्णन किया है जो अन्तरमुख वालों को ही धारणा ध्यान के प्रभाव से प्रगट हुआ करती हैं। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण से उद्धव ने प्रश्न किया—

**कया धारणया कास्वित, कथम्वित सिद्धिरच्युत ।**
**कतिवा सिद्धयो ब्रू हि, योगिनां सिद्धि दो भवान् ॥**

अर्थात्, सर्वशक्तिमान सिद्धियाँ कितने प्रकार की हैं और किस धारणा से वह किस प्रकार प्राप्त की जाती हैं। आप योगियों को सिद्धियों को देने वाले हैं। कृपा करके उन सिद्धियों के नाम व गुण बतलाइये। इसके उत्तर में भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी अष्टादश सिद्धियों का स्वरूप बतलाया जिसमें से आठ प्रमुख हैं वे इस प्रकार हैं—

**सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता, धारणा योगपारगैः ।**
**तासामष्टौ मत्प्रधाना, दशैव गुण हैतवः ॥**

अर्थात्, ध्यान योग के वेत्ता योगिराज लोगों ने सिद्धियाँ अठारह प्रकार की बतलाई जिसमें आठ मुझसे सम्बन्ध रखने वाली हैं और दस गुणों से पैदा होने वाली हैं।

आठ महा सिद्धियाँ जो प्रकृति के विश्लेषणों पर अधिकार प्राप्त करने वाले योगियों को भगवान् के निज स्वरूप में तद्रूपता प्राप्त करने पर होती हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है—

## आठ महासिद्धियाँ

**अणिमा महिमा मूर्तें, लघिमा प्राप्तिरेन्द्रियैः ।**
**प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु, शक्ति प्रेरणमीशिता ॥**
**गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्त दवस्यति ।**
**एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टौचौत्पत्तिकामताः ॥**

अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, यत्रकामाव-सायत्व ये आठ महासिद्धियाँ हैं। इसके स्वरूप को इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

**अणिमा**—योगी का अणु के समान बहुत ही सूक्ष्म हो जाना।

**महिमा**—बड़ा हो जाना।

**लघिमा**—रुई के समान हल्का होना।

**प्राप्ति**—सब प्रकार की पहुँच अर्थात् योगी चाहे तो अपनी अंगुली के अग्रभाग से पृथ्वी से चन्द्रमा को छू सकता है।

**प्राकाम्य**—अनिच्छागति, अर्थात् जिस प्रकार सर्वसाधारण मनुष्य पानी में अनायास प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार योगी चाहे तो पृथ्वी में प्रवेश कर सकता है।

**वशित्व**—प्राणीमात्र पर पूर्ण वशीकार प्राप्त करना।

**ईशत्व**—हुकूमत करना या मालिक होना।

**यत्रकामावसायत्व**—सत्य संकल्प होना, जो विचार मन में आ जाये उसका ही यथार्थपूर्वक होना।

ये योगियों की आठ महा सिद्धियाँ हैं जो इकतार अभ्यास करने वाले योगिराज लोगों को ही प्राप्त हुआ करती हैं। समय-समय पर योगियों के इतिहास में इन्हीं सभी सिद्धियों का आविर्भाव पूर्णरूपेण दिखलाई देता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि अष्ट महासिद्धियाँ हर समय वास किया करती हैं और उनके जीवन में स्थान-स्थान पर उनकी चमत्कारिक घटनाओं में यह बिल्कुल स्पष्ट उनकी आत्म-शक्तियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कई स्थानों पर वह अन्तरध्यान हुए, रासलीला के प्रकरण में गोपियों के अन्दर अभिमान पैदा हो जाने पर तत्काल वहाँ के वहाँ ही अन्तरध्यान हो जाना। उनके योग ऐश्वर्य का परिचायक है। तृणावर्त के मारने के समय रुई के मानिन्द हल्का होकर उसके साथ आकाश में जाना और फिर उसके बाद पत्थर के समान भारी होकर जमीन पर आना यह उनके लघुत्व एवम् गुरुत्व का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार से पाताल आदि लोकों से अपने गुरुदेव के मरे हुए पुत्रों को लाकर देना, यह उनका स्पष्ट प्राकाम्य का प्रभाव है। ईशत्व और वशित्व तो उनके जीवन में प्रतिक्षण बनी ही रही है। इसके अतिरिक्त गुणधर्मों से पैदा होने वाली दस उपसिद्धियों का वर्णन भी भगवान ने अपने मुखारविन्द से किया है। वह इस प्रकार है—

## दस उपसिद्धियाँ

अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन, दूरश्रवण दर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं, परकाय प्रवेशनम् ॥
स्वच्छन्द मृत्युर्देवानां, सहक्रीड़ानुदर्शनम् ।
यथा संकल्प सं सिद्धि, राज्ञाप्रतिहता गतिः ॥
त्रिकालज्ञत्व मद्वन्द्वं, परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां, प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥

इसके अतिरिक्त और भी सिद्धियाँ हैं जो विविध प्रकार के संयमों से मनुष्यों को प्राप्त होती हैं।

**अनूर्मिमत्वं**—भूख, प्यास आदि के वेगों का न होना।

**दूरश्रवण दूरदर्शनम्**—दूर की बातें सुनना व दूर तक देखना।

**मनोजवित्व**—मन के वेग द्वारा चलना। एक योगी का मन जहाँ जाय तत्काल उसका शरीर वहीं पहुँच जावे इसको मनोजविता कहते हैं। अर्थात् मन के वेग से पहुँचना। जिस प्रकार हस्तिनापुर में द्रोपदी के चिन्तनमात्र से भगवान श्रीकृष्ण का द्वारका से पहुँचना और उनके वस्त्र को बढ़ाना। दुर्वासा के वन में जाने पर और उनके आतिथ्य के लिये द्रोपदी का श्रीकृष्ण का चिन्तन करना और तत्काल श्रीकृष्ण का वहाँ पहुँच जाना। यह सब मनोजविता का ही उदाहरण है।

**कामरूपं**—जैसा मन चाहे उसी प्रकार का रूप धारण कर लेना।

**परकायप्रवेशनम्**—दूसरे के शरीर में घुस जाना। जिस प्रकार से मण्डन मिश्र के साथ श्रीनगर में शास्त्रार्थ करने पर विद्याधरि से परास्त होकर के श्री शंकराचार्य जी छः महीने का अवसर लेकर किसी राजा के शरीर में जाकर घुस गये थे और छः महीने बाद उसको परास्त किया।

**स्वच्छन्द मृत्यु**—अपनी इच्छानुसार मृत्यु ग्रहण करना, अर्थात् जब तक योगी चाहे जीवित रहे।

**देवानाम् सहक्रीडा दर्शनम्**—देवताओं की अप्सराओं के साथ होने वाली हास-विलास आदि क्रीड़ाओं को अन्तर्वर्ण देखना।

**संकल्प सिद्धि**—जैसा सोचे वैसा ही हो जाना।

**आज्ञाप्रति हतागति**—सब जगह हुकूमत करना।

यह दस सिद्धियां सतोगुण से होने वाली हैं। इनका सम्बन्ध सतोगुण से है। इसके अतिरिक्त—

**त्रिकालज्ञत्व**—अर्थात् तीन काल की बातों को जानना।

**अद्वन्द**—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि द्वन्दों के वश में न होना।

**परचित्ताद्यभिज्ञता**—दूसरे के चित्त की बातों को जानना।

**अग्न्यर्काम्बु विषादीनांप्रतिष्टम्भ**—अग्नि, सूर्य, जल और विष आदि को योगी के शरीर पर किसी प्रकार का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ना।

**अपराजय**—किसी से भी पराजित न होना।

ये पाँचों सिद्धियाँ भी योगियों को अपने योगध्यान से प्राप्त हुआ करती हैं। जितनी सिद्धियों का वर्णन योगदर्शन, श्रीमद्भागवत् में, उपनिषदों में, या योगवशिष्ठ

आदि में मिलता है वो सब उनका अपना ऐश्वर्य है। मेरे श्री गुरुदेव जी महाराज अपने मुखारविन्द से हिमालय के सिद्धों की आश्चर्यजनक कथायें सुनाया करते थे, जिनको सुन-कर आजकल के समय का मनुष्य आश्चर्यचकित हो जायेगा और गप्प कहकर छोड़ देगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। हमारे पूज्य बुजुर्गों ने मेरे श्री गुरुदेव जी ने एक बार जिक्र करते हुए बतलाया कि हिमालय के अन्दर इस प्रकार के उच्चकोटि के महात्मा हैं जिन्होंने रोम-कूपों से हजारों स्त्री-पुरुषों की रचना कर ली। बड़े-बड़े महल व बँगले बना लिये। मालूम पड़ने लगा यह एक नया लोक बसा है। किन्तु उन्होंने फिर निज निर्मित सृष्टि का संहार करना चाहा तो एक बार स्वर-श्वासों का आकर्षण किया और वह सारी सृष्टि उन्हीं में विलीन हो गई। यदि आधुनिक समय में इन सब बातों को लोगों के मध्य में प्रचारार्थ बताया जावे तो गप्प कहकर छोड़ देने के अतिरिक्त तीसरी चीज नहीं होगी। किन्तु बात इस प्रकार की नहीं है, हमारा पुराना इतिहास इस प्रकार के उपाख्यानों की पूरी-पूरी गवाही देता है। त्रिशंकु का इतिहास आप लोगों ने सुना ही होगा, महाराज त्रिशंकु के निमित्त विश्वामित्र को नये स्वर्ग की रचना करना, इसी प्रकार की घटनाओं का ज्वलन्त उदाहरण है।

## संतों की प्रत्येक चेष्टा लोककल्याण के लिए होती है!

श्री वसुदेवजी कहते हैं—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥
भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११/२/४-५)

हे देवर्षे! जैसे माता-पिता का शुभागमन बालकों के हित के लिये और भगवान् की ओर चलने वाले सन्तों का शुभागमन लोपलब्ध प्राणियों के हित के लिये होता है। वैसे ही आपका शुभागमन समस्त प्राणियों के परम कल्याण के लिये है। देवताओं के आचरण कभी प्राणियों के सुख के लिये होते हैं तो कभी दुःख के लिये भी हो जाते हैं। परन्तु जो आपके—जैसे महात्मा हैं, उनकी तो प्रत्येक चेष्टा ही प्राणियों के सुख के लिए होती है।

# गीता में प्रतिपादित "लोक संग्रह" हेतु कर्म की यथार्थता तथा आज के परिदृश्य में इसकी उपादेयता

* श्री डा० जयनारायण राय, बी०एम०एस०, एम०ए०, शास्त्री
६/५ श्रमिक बस्ती, तालकटोरा रोड, लखनऊ–२२६००४

भारत देश का सनातन धर्म सदैव समष्टिपरक एवम् 'वसुधैव कुटुम्बकम्" का रहा है यही कारण है कि प्रत्येक कर्म को निष्काम एवम् अनासक्त भाव से पूरा करने की परिकल्पना की जाती है। श्रीमद्भगवद्-गीता निष्काम,कर्मयोग, ज्ञानयोग एवम् भक्ति योग के सिद्धान्तों के समन्वय का एक अनूठा उपनिषद् है।

योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने तथा लोक-संग्रह हेतु कर्म करने की प्रेरणा दी। अनासक्त होकर कर्म करने के मार्ग में कर्मासक्ति और फलासक्ति दोनों का समावेश होता है। वस्तुतः जब तक हम में कर्त्तापन है, तब तक कर्मासक्ति बनी रहेगी और भोक्तापन के रहते फलासक्ति हमसे दूर नहीं होगी। यदि मनुष्य अपने को भगवान् का यन्त्र माने, तो इससे कर्त्तापन का भाव दूर होगा ही, साथ ही भोक्तापन भी नष्ट होगा। हम जब ईश्वर का यन्त्र बनकर काम करने की बुद्धि अपने भीतर पैदा करते हैं तो फिर कर्म ऊपर से सांसारिक दिखते हुए भी सांसारिक नहीं रह जाते। तब हमारा 'स्व, केवल परिवार और आत्मीय स्वजनों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु वह बृहत्तर समाज को अपनी परिधि में समेटने लगता है। इस वस्तुस्थिति को साधक ही अपनी साधना के माध्यम से अनुभव कर सकता है। वास्तव में जब कर्म करने से मन विक्षिप्त हो जाय तो वह कर्म बन्धन कारक है और जब कर्म करने से यह अनुभूति हो कि यह कर्म ईश्वर की पूजा के निमित्त है, तो वह बन्धन कारक नहीं होता है। यह सूक्ष्म अनुभव साधना के रास्ते पर तनिक आगे बढ़ने पर ही समझ में आता है। युक्ति तर्क के द्वारा न तो इस अनुभूति को कोई समझ सकता है और न समझा सकता है।

जहाँ तक "लोक संग्रह" हेतु कर्म का सम्बन्ध है, इस सिलसिले में श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता के तीसरे अध्याय में कहा है कि—

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥**
**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥**
(गीता ३/२०-२१)

अर्थात् "सच पूछो तो जनक आदि कर्म के द्वारा ही सिद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं। लोक संग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म करने के योग्य हो।"

"श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है, वही अन्य यानी साधारण जन भी करते हैं। वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार वर्तन करते हैं।

वस्तुतः लोक-संग्रह का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने कई प्रकार से किया है। किसी ने लोगों की कुमार्ग में प्रवृत्ति को रोकने को लोक संग्रह माना है, तो किसी ने उसका अर्थ लोक-रक्षण किया है। अन्य किसी ने लोगों को स्वधर्म में प्रेरित करते रहने को लोक संग्रह माना है। वैसे 'संग्रह' का अर्थ होता है इकट्ठा करना। तो लोक-संग्रह का का अर्थ हुआ—लोगों को इकट्ठा करना, अपने साथ सबको ले चलना। ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह लोगों के सामने उदाहरण रखे, जिससे लोग सीख सकें। लोक-रक्षण मात्र उपदेश से नहीं होता, उपदेश के अनुरूप आचरण भी होना चाहिए। लोग आचरण को देखकर अधिक सीखते हैं। ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञान के बल पर आत्माराम और आत्मतृप्त होकर कर्म से अपने को समेट लेता है किन्तु संसारी लोग उसकी देखादेखी आलस्य वश कर्म त्याग करेंगे जो उनके और संसार के लिये घातक होगा। इसलिये २१वें श्लोक में तर्क दिया गया है। समाज में श्रेष्ठ लोग जिस प्रकार का आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसे प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसीके अनुरूप चलते हैं। यही कारण है कि लोक-संग्रह की उपादेयता के सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने उपदेश में श्रेष्ठ पुरुष के आचरण में पाँच पद—'यत्' 'यत्' 'तत्' 'तत्' (विशेष रूप से) 'एव' रखने का अभिप्राय है कि उसके आचरण का प्रभाव समाज पर पाँच गुना अधिक पड़ता है और प्रमाण में 'यत्' और 'तत्' देने का अभिप्राय है कि प्रमाण का प्रभाव समाज पर केवल दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है। इसीलिये राजा जनक आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि राजा जनक अनासक्त होकर कर्म करते थे और कर्म से ही उन्हें सिद्धि मिली। भगवान् का यह कथन युक्तिसंगत है कि जगत की रक्षा के लिये यज्ञचक्र आवश्यक है। इसलिये कर्म करना चाहिये। ऐसा यज्ञार्थ कर्म मनुष्य के लिये बन्धनकारक नहीं होता। 'लोकसंग्रहम् एवम् अपि' में जो 'अपि' (भी) शब्द है, वह प्रकरण का विभाजन सूचित करता है। 'अपि' शब्द दो अर्थों को सूचित करता है। एक तो यज्ञचक्र के सन्दर्भ में, अर्थात् जैसे यज्ञार्थ कर्म करना चाहिये, वैसे ही लोकसंग्रह के लिये भी कर्म करना चाहिये। दूसरा ज्ञान के सन्दर्भ में। भले ही व्यक्ति ज्ञानलाभ करके आत्मनिष्ठ हो गया है, भले ही उसे अपने लिये कर्म करने की कोई बाध्यता नहीं है, तथापि लोक-संग्रह के लिये उसे आवश्यक कर्म करना चाहिये।

लोक संग्रह की अनिवार्यता एवम् उपादेयता की पुष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण उदाहरण स्वरूप स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं**
**त्रिषु लोकेषु किंचन।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त**
**एव च कर्माणि॥**
**यदि ह्यहं न वर्तेयं**
**जातु कर्मण्यतन्द्रितः।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते**
**मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥**
**उत्सीदेयुरिमे लोका न**
**कुर्यां कर्म चेदहम्।**
**संकरस्य च कर्ता**
**स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥**

(गीता ३/२२-२३-२४)

अर्थात् "हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि न तो मुझे कुछ अप्राप्त है और न कुछ प्राप्त ही करना है। फिर भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूँ।"

"क्योंकि हे पार्थ ! यदि मैं कदाचित निद्रा-आलस्य छोड़कर कर्म में लगा रहूँ, तब तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे।"

"यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायें, मैं वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ तथा इन प्रजाओं के ध्वंस का कारण बनूँ।"

भगवान् श्रीकृष्ण जनक आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने के बावजूद अर्जुन की संतुष्टि के लिये स्वयं अपना उदाहरण रख देते हैं। भगवान् के लिए तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ पर भगवान् के वचन को दो प्रकार से देखा जा सकता है—एक तो यह मानकर कि वे श्रीकृष्ण हैं और अर्जुन के सारथी हैं और दूसरे यह मानकर कि वे साक्षात् ईश्वर हैं। यदि श्रीकृष्ण को मनुष्य दृष्टि से देखा जाय, तो श्लोकों का तात्पर्य यह होगा कि वे आप्त काम हैं, तीनों लोकों में उनके लिये किसी कर्म की कर्त्तव्यता नहीं है। कर्त्तव्यता तब होती है, जब मनुष्य को कुछ अप्राप्त होता है अथवा जो प्राप्तव्य है उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। पर श्रीकृष्ण के लिए ऐसा कुछ न था, जो अप्राप्त हो अथवा जिसको पाने की उनमें इच्छा हो। कामना ही तो मनुष्यको कर्म में प्रेरित करती है। पर जो अकाम हो, उसके लिये कर्म की क्या आवश्यकता है। ऐसे अकाम होते हुए भी श्रीकृष्ण किस प्रकार सतत् कर्म करते हैं, यह उनके जीवन में स्पष्ट है। वे दुष्ट राजाओं का संहार करते हैं, युधिष्ठिर के दूत बनकर दुर्योधन के पास जाते हैं, अर्जुन के सारथी बनते हैं। उनका अपना कहीं स्वार्थ नहीं, फिर भी निरन्तर कर्म में रत हैं। वे यदि कर्म करना छोड़ दें, तो दूसरे लोग भी देखादेखी क्रियाशीलता से विमुख हो जायें।

यदि श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में देखा जाय तो उक्त श्लोकों से यह आशय ध्वनित होता है कि साक्षात् ईश्वर, जिन्हें कुछ भी अप्राप्त या प्राप्तव्य नहीं है, किस प्रकार जीवों के कल्याणार्थ सतत् कर्म में लगे हुए हैं। उन्हीं की प्रेरणा से नक्षत्र एवं ग्रह, सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण आदि अपने-अपने कर्मों में लगे हुए हैं। यदि ईश्वर का यह कार्य बन्द हो जाय तो सब कुछ नष्ट हो जायेगा। ईश्वर की प्रेरणा ही जीवों में कर्म की स्फुरणा जगाती है। यदि वही प्रेरणा बन्द हो जाय, तो सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जायगा, सारा संसार निष्क्रिय हो जायेगा।

वास्तव में आज भारत के साथ-साथ सारे विश्व में लोक-संग्रह की भावना नष्ट हो गयी है। सत्ता में व्यक्ति आ तो जाता है, पद पर भी राजनैतिक दाँव-पेंच के कारण पहुँच जाता है किन्तु पद की मर्यादा की रक्षा करना उसने सीखा नहीं, इसलिये वह अपने पद को भी कलंकित करता है, साथ ही समाज में अपने कदाचार का विष बिखेर देता है। श्रेष्ठ स्थान पर बैठ जाने से ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता, बल्कि जिसे वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान है और आचरण भी, वही श्रेष्ठ है, इस दृष्टि से सत्ता में बैठे लोगों को देखकर निराशा ही होती है। सर्वत्र सत्ता में बैठे लोग त्याग और चरित्रगठन आदि की बातें करते हैं किन्तु आचरण एवं व्यवहार में

(शेष पृष्ठ २२ पर)

# कुण्डलिनी पथ—योगी की अन्तर्यात्रा

❀ श्रीमति कविता शर्मा

हम स्थूल व्यक्ति हैं, हमारी बुद्धि के सोचने की एक सीमा है। हमने अभी तक ब्रह्माण्ड का एक बहुत छोटा-सा अंश देखा है। इसके अलावा समस्त ब्रह्माण्ड की अलौकिक शक्तियों को न तो हम अनुभव कर सके हैं और ना ही हम उन्हें देख सके हैं। ऐसी कई यौगिक क्रियायें, मन्त्र, साधना और तपस्या के मार्ग हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति ब्रह्माण्ड की अलौकिक शक्तियों एवम् ऐश्वर्य का अनुभव कर सकते हैं व उन्हें देख सकते हैं।

अखिल ब्रह्माण्ड नायक महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने लोक कल्याणार्थ कई-कई शरीरों में इस भूलोक पर अवतरण लिया और योग का प्रचार-प्रसार किया। महाप्रभु जी ने आल्हाद के क्षणों में अपने समस्त शिष्यों को उनके प्रति विशेष कृपालु होकर उन्हें दिव्य ज्ञान दिया और अलौकिक रहस्य बताये तथा अपने शिष्यों की कुण्डलिनी को जागृत किया और उन्हें ब्रह्माण्ड की अलौकिक शक्तियों एवम् ऐश्वर्य का अनुभव कराया।

महाप्रभु जी के शिष्य श्री गणेश बटाणी जी जो कि अपनी भाव समाधि के कारण दूर-दूर तक विख्यात हो गये थे और इस स्थिति तक पहुंच गये थे कि महाप्रभु जी का नाम सुनते ही समाधिस्थ हो जाया करते थे। उनके अनेक भक्त इसे पाखण्ड ही समझते थे किन्तु इसके मूल में जो रहस्य व दिव्य यात्रा थी, वह वास्तव में कुण्डलिनी जागरण की ही पूर्ण अवस्था थी। इसी को व्यक्त करने के लिये श्री गणेश बटाणी जी ने अपने शिष्यों को बताना प्रारम्भ किया कि जब कुण्डलिनी मूलाधार से अपनी सुषुप्ति छोड़कर आगे बढ़ती है, उसमें जागरण की अवस्था या स्फुरण, प्रारम्भ होता है तब क्या-क्या अनुभूति होती है और क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, एवम् विशुद्ध चक्रों पर क्या-क्या अनुभूतियाँ होती हैं। इसके बाद आज्ञा-चक्र पर कैसा प्रकाश अनुभव होता है तथा यहाँ तक स्पष्ट करने के बाद उन्होंने कहना प्रारम्भ किया और जब यह कुण्डलिनी

(पृष्ठ ११ का शेष)

उनमें त्याग और चरित्र कहीं दिखाई नहीं देता। यही कारण है कि देश और समाज का अधःपतन हो रहा है। लोक-संग्रह की भावना को मूर्तरूप देने में कुछ इने-गिने लोग हैं, उन्हीं के पुण्य के बल पर आज समाज टिका हुआ है।

आज के परिदृश्य में विश्व-कल्याण के लिये लोक-संग्रह की भावना को मूर्त रूप देने में श्रेष्ठ जन चाहे सत्ता में बैठे हों या सामाजिक संगठन में लगे हों, अपने आचरण से लोगों में विश्वास व आदर्श प्रस्तुत करेंगे, तो लोग भी उसी के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयास करेंगे। तभी लोक-संग्रह हेतु कर्म की उपादेयता चरितार्थ होगी। ★

शक्ति आज्ञाचक्र से ऊपर बढ़ती है तो इसका कहते-कहते उनको समाधि लग गयी। कुछ क्षणों बाद जब वे पुनः प्रकृतिस्थ हुए तब पुनः कहना प्रारम्भ किया और वही वाक्य कहते-कहते फिर समाधिस्थ हो गये। निरन्तर तीन बार इसी क्रम के होने पर वे अन्त में विवश होकर आँखों में आँसू भरकर केवल इतना ही कह सके "शायद प्रभु की इच्छा नहीं है कि यह रहस्य तुम सभी के समक्ष उद्घाटित करूँ।"

बाद में महाप्रभु जी के अत्यन्त कृपापात्र शिष्य सद्गुरुदेव योगी योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने इस सम्पूर्ण घटना को स्पष्ट किया और बताया कि यह तो अवर्णनीय सुख है, वह विलक्षण अनुभूति है जिसे व्यक्त किया ही नहीं जा सकता है। किन्तु उनके गुरुदेव का अपने शिष्यों के प्रति जो अनुग्रह था वह उन्हें उद्वेलित करता रहता था कि अपने शिष्यों को उस अनिर्वच-नीय आनन्द से परिचित करादें।

कुण्डलिनी यात्रा ऐसे ही अनिर्वचनीय आनन्द की यात्रा है और इसका कोई भी वर्णन, कोई भी तथ्य, कोई भी रहस्य उद्-घाटित किया ही नहीं जा सकता। क्योंकि जिस स्तर को प्राप्त करने के बाद वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है यथार्थ में सुख परि-लक्षित होता है। उस स्तर तक पहुँचने के लिए कड़ा परिश्रम करना होता है। वह स्तर होता है मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र की यात्रा तक पूर्ण करने का अर्थात् शक्ति उद्गम से शिव के स्थान तक पहुँचाने का फिर वहीं तो शिव व शक्ति संयुक्त होकर निर्द्वन्द्व आकाश में विचरण करने को समर्थ हो जाती है। वह आकाश होता है इसी घट में इसी देह में स्थित सहस्रार चक्र का जहाँ एक-एक बिन्दु पर अमृत छलक रहा है। जिस सरोवर में आनन्द के सैकड़ों-सैकड़ों मोती बिखरे पड़े हैं और जहाँ निरतीत का शाश्वत साम्राज्य है।

कुण्डलिनी-जागरण की यात्रा षट्चक्र भेदन के पश्चात् समाप्त नहीं होती वरन् यथार्थ में आरम्भ होती है। इसके पूर्व तो मानो सब कुछ प्रस्तावना जैसी ही थी, एक विराट यात्रा की प्रस्तावना। आध्यात्मिक जगत में षट्चक्र भेदन वस्तुतः अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना नहीं है, यद्यपि सामान्य जीवन क्रम को छोड़कर विशिष्ट बनने की प्रक्रिया अवश्य है। मूलाधार जहाँ प्रसुप्ति की अवस्था है और आज्ञाचक्र जहाँ शिव शक्ति सायुज्य की दशा है वहीं फिर सहस्रार भेदन और सहस्रार में अवस्थित होना जीवन का सर्वोच्च आनन्द है। जीवन की मूल शक्ति "कुण्डलिनी शक्ति" जब गुरु-कृपा से चैतन्य होती है तो अपना अधोगामी प्रवाह त्यागकर ऊर्ध्वगामी होती है तथा एक-एक चक्र पर विलक्षण अनुभूतियाँ प्रदान करती हुई अन्त में आज्ञाचक्र पर विश्राम करती है किन्तु यह विश्राम-मात्र ही होना चाहिये। यह पड़ाव नहीं है, बल्कि एक प्रकार से भावी उन्मुक्त यात्रा को सम्पन्न करने के लिये ऊर्जा का संग्र-हण है और उस रूप से भी अधिक वह स्थिति है जहाँ व्यक्ति पहली बार द्वन्द्वमुक्त होने का रहस्य सीखता है, द्वन्द्व रहित होना सीखता है, दशाओं से सर्वथा निर्विकल्प होने की कला जानता है और समस्त राग-द्वेष विकार से एक ही पल में मुक्त होकर उस आकाश में विस्तृत होकर उड़ान भरने की कला सीख

लेता है जिसे योगियों की भाषा में "चिदाकाश" कहा गया है। तब वह चित्त को अपने में समाहित कर लेता है। फलस्वरूप ऐसा व्यक्ति सहज ही त्रिकालदर्शी व गोपनीय तथ्यों को जानने वाला होता हुआ साक्षात् ब्रह्मस्वरूप बनने की क्रिया में संलग्न हो जाता है।

कुण्डलिनी-जागरण जीवन की अत्यावश्यक यात्रा है किन्तु यह यात्रा इतनी सहज भी नहीं हो सकती। किन्तु यही ऊर्ध्वगामिता ही अन्ततोगत्वा जीवन में ऐसी सुगन्ध और निर्मलता लाने में समर्थ होती है जो प्रेम, शान्ति, दया, ममता और करुणा जैसी भावनाओं का मूल है। मूलाधार से ऊपर उठने के पश्चात् प्रबुद्ध (शक्तियुक्त) कुण्डलिनी निरन्तर छटपटाती हुई अपने प्रवाह को व्यक्त करना चाहती है। यदि वैज्ञानिक भाषा में कहें तो शरीर की जीवन ऊर्जा प्रस्फुटित होकर उन क्षेत्रों में जाने को व्यग्र हो उठती है जिनसे सहज ही सुखानुभूति होती है और ये स्थितियाँ कामवासना की हैं। किन्तु जब सद्गुरु के निर्देशन में इन्हें ऊर्ध्वगामी किया जाता है तब एक स्वतः प्रवाह से यही शक्ति क्रमशः एक के बाद एक चक्र का भेदन करती जाती है।

कुण्डलिनी-जागरण के क्रम में इसी कारण पग-पग पर साधक को जरूरत से ज्यादा तनाव और द्वन्द्व सहन करने पड़ते हैं। धैर्य रखने के पश्चात् जब कुण्डलिनी जागरण के उच्चतम सोपान पर आज्ञाचक्र का स्पर्श हो जाये तब साधक को प्रयास करके इसके आगे का क्रम अवश्य प्राप्त करना चाहिए। प्रायः यह भी होता है कि साधक को आज्ञाचक्र का स्पर्श प्राप्त कर लेने के बाद एक विचित्र-सी सुखद अनुभूति होती है लेकिन यही सुखानुभूति उसके पतन का कारण भी बन सकती है क्योंकि इस स्तर तक साधक में वह क्षमता नहीं आ पायी होती है कि वह कुण्डलिनी-जागरण के वेग को उसके प्रभावों को धारण कर सके। अतः चौकन्ना व योग्य साधक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह सहस्रार जागरण करे।

वस्तुतः कुण्डलिनी यात्रा का पथिक यह स्पष्ट जानता ही नहीं कि वह किस लक्ष्य के लिये गतिशील है। वह जिस आध्यात्मिक लाभ की चर्चा करता है उसका निश्चित तात्पर्य क्या है? वह आनन्द कैसा है? वह अलौकिक अनुभूति कैसी है? क्योंकि जो इस अलौकिक आनन्द का वर्णन करके बता सके वे स्वयं श्री गणेश वटाणी जी की तरह भावविभोर हो जाते हैं और जिन्होंने इसका स्पर्श भी नहीं किया है वो केवल संकेत मात्र कर सकते हैं, अनुभूतियों की चर्चा कर सकते हैं। किन्तु अनुभूतियाँ और विवरण उस सुख का एक अंश भी नहीं बता सकतीं। क्योंकि वह तो एक ज्योति की यात्रा है, अपने आपमें ही अवस्थित अलौकिक प्रकाश का का अनुभव है और जो गुरु कृपा से सहस्रार जागरण के पश्चात् प्रकट होता है उससे तो साधक का सारा तन, मन अनोखी ऊर्जा से भर जाता है।

सहस्रार की स्थिति मानव मस्तिष्क में मधुमक्खी के छत्ते की भाँति बनाई गई है जो सिर में उल्टे कमलदल के समान स्थित है और उसमें से टपकता हुआ अमृत का एक-एक कण साधक की देह को तो यौवनवान बनाता ही है साथ ही उसे निरन्तर ऐसी अलौकिक अनुभूतियाँ कराता रहता है, ऐसे अनोखे रस का पान कराता रहता है जिससे

साधक सदैव मुदित और तनाव रहित रहता है क्योंकि इस सुख के आगे संसार का प्रत्येक सुख क्षीण है और यही ब्रह्मानन्द है। यहीं तक पहुँच जाने के बाद फिर योगी के वापिस सांसारिक चक्रों में पड़ने की आशंका समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह विरक्त हो जाता है वरन् तब उसके अन्दर साक्षीभाव और दृष्टाभाव पनप जाता है और ऐसे भाव के बाद द्वन्द व तनाव शेष रह भी कैसे सकता है।

यही हंसों का वास है। यही योगियों का शान्त कुहर है। यही चिरमौन है। यही आनन्द है। यही पूर्णत्व है। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक सम्पन्न हुई एक यात्रा का पूर्णत्व सहस्रार जागरण ही है। आज्ञाचक्र जागरण के बाद जितनी भी शीघ्र सम्भव हो सके, सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर सहस्रार प्राप्त कर ही लेना चाहिए जिससे जीवन में स्खलन का भय न रहे, च्युत हो जाने की सम्भावनाएं समाप्त हो जावें, मन में कोई तर्क-वितर्क, ऊहापोह न रह जाये और एक प्रकार से अपने इस जीवन को ही नहीं वरन् अपने आगामी जन्मों को भी निश्चिन्त कर लिया जावे क्योंकि आज्ञाचक्र तक पहुँचा हुआ साधक जहाँ वासना के वशीभूत होकर दुर्घटनावश किसी प्रकार से स्खलित होकर पुनः मूलाधार पर वापस जा सकता है जबकि सहस्रार जागरण अवस्था प्राप्त कर चुका साधक अपने आगामी जन्मों में भी जाग्रत सहस्रार के साथ ही जन्म लेता है। तब उसे प्रायः आठ-दस वर्ष की आयु का होते-होते अपना सम्पूर्ण पिछला जीवन साधनात्मक क्रियाऐं, गुरु साहचर्य सब कुछ स्मरण में आ जाता है। और वह अगला जन्म और उससे भी अगला जन्म निरन्तर साक्षी बनकर निर्विकल्प रूप से, निर्द्वन्द्व रूप से जीने की क्रिया सीख लेता है।

महाप्रभु जी ने और भी स्पष्ट कर यह उपदेश देते हुए कहा है कि मनुष्य का जो शरीर हमें दृष्टिगोचर होता है वह मात्र स्थूल शरीर ही है इसके अतिरिक्त छः शरीर और भी हैं। इन सातों शरीरों से ही मानव का निर्माण हुआ है। कुण्डलिनी एवं इसके चक्रों को समझने के लिये इन सातों शरीरों का ज्ञान अनिवार्य है। ये सात चक्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रथम शरीर स्थूल शरीर है जिससे हम सभी परिचित हैं। दूसरा शरीर प्राण शरीर होता है। उससे पीछे तीसरा शरीर है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। चौथा शरीर उसके अन्दर है जिसे मनस् शरीर कहा गया है। इसके भीतर पाँचवां शरीर अर्थात् आत्मिक शरीर का स्थान है। छठवां शरीर जो उसके भी पीछे है उसे ब्रह्म शरीर कहते हैं। सबसे अन्त में सातवां शरीर आता है जिसे निर्वाण शरीर कहा गया है।

मनस् शरीर अर्थात् मानव व्यक्तित्व के चौथे शरीर में अवस्थित ये चक्र मानव-रचना के प्रमुख प्रसारक एवम् नियन्त्रक केन्द्र हैं जिनका सीधा सम्बन्ध प्रमुख नाड़ी संस्थानों एवम् नियन्त्रक केन्द्रों से है। इन चक्रों की संख्या भी सात ही है। प्रत्येक चक्र मनुष्य के शरीर से विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। चूँकि कुण्डलिनी की भाँति ये चक्र भी स्थूल शरीर से परे किसी अन्य शरीर पर हैं। अतः चिकित्सा विज्ञानी को ये दृष्टिगत नहीं हो सकते परन्तु इन चक्रों से मेल खाने वाले बिन्दुओं का पता स्थूल शरीर पर लगाया जा सकता है। स्थूल शरीर में ये बिन्दु नाड़ी गुच्छा के रूप में हैं जो सुषुम्ना से निकलने

के बाद मेरुदण्ड की कोशिकाओं के छिद्रों के माध्यम से बाहर आते हैं। ये चक्र भौतिक शरीर के जिन अङ्गों के सामने मेरुदण्ड में छिपे हुए हैं उन्हीं अङ्गों के नाम से जाने जाते हैं।

मेरुदण्ड को मानव शरीर का आधार कहा जा सकता है। यह भीतर से खोखला होता है। इसके बायें पार्श्व में इडा एवम् दाहिने पार्श्व में पिंगला नामक दो नाड़ियाँ हैं। मेरुदण्ड के मध्य में त्रिगुणात्मक स्वरूप सुषुम्ना नाड़ी स्थित है जिसके भीतर क्रमशः वज्रा, चित्रिणी एवम् ब्रह्मनाड़ी की स्थिति है।

मनस् शरीर के छः चक्रों की कल्पना इसी ब्रह्मनाड़ी में पिरोये हुए छः कमलों के रूप में की गयी है। मुमुक्षु साधक आत्म-कल्याण की भावना से अपनी सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मनाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगामी करके षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्रार में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। यहाँ यह ज्ञान होना आवश्यक है कि मात्र ध्यानावस्था में जाने पर ही साधक अपने दिव्य नेत्र के माध्यम से इन चक्रों के वास्तविक स्वरूप के दर्शन कर सकता है तथा इनके इष्टदेवों से साक्षात्कार कर सकता है। इन चक्रों का संक्षिप्त विवरण आगे की निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत है—

**(१) मूलाधार चक्र**—यह भौतिक शरीर का केन्द्र है। मेरुदण्ड के सबसे नीचे के भाग के "कन्द" प्रदेश से लगे गुदा एवं लिंग के मध्य में इस चक्र की स्थिति मानी गयी है। इसका यन्त्र पृथ्वी तत्त्व का द्योतक एवं चतुष्कोणीय है। यन्त्र के मध्य में स्वयम्भू लिंग स्थित है। जिसके चारों ओर लिपटी हुई सुप्त कुण्डलिनी शक्ति विराजमान है। यह चतुर्दल पद्म है जो रक्तवर्णीय है इसका बीज मन्त्र "लं" है। इसके देव और शक्ति ब्रह्मा और डाकिनी हैं। बीज का वाहन ऐरावत हस्ती है। वर्णमाला के अन्तिम चार "वं, शं, षं और सं" चारों दलों पर स्थित माने गये हैं।

मूलाधार की प्राथमिक सम्भावना काम-वासना है जो प्रकृति प्रदत्त है। इसकी अन्तिम सम्भावना ब्रह्मचर्य है जो कि साधना का प्रतिफल है।

**(२) स्वाधिष्ठान चक्र**—इस चक्र का आकाश शरीर से केन्द्रीय सम्बन्ध है। मेरुदण्ड के भीतर इसकी स्थिति लिंग के ठीक पृष्ठ प्रदेश में है। सिन्दूर वर्ण का यह "षट्-दल पद्म" है। इन दलों पर छः अक्षर "बं, भं, मं, यं, रं, लं" प्रकाशित होते हैं। इसका बीज मन्त्र "वं" है जो जल तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। इस बीज का वाहन "मकर" है। इस चक्र के देव एवम् शक्ति विष्णु एवं राकिनी हैं।

इस चक्र की भी दो सम्भावनायें हैं। मूलतः प्रकृति से इसे भय, घृणा, क्रोध व हिंसा की स्थितियां मिलती हैं जिनका रूपान्तरण अभय, प्रेम, क्षमा एवं अहिंसा में करना आवश्यक होता है।

**(३) मणिपुर चक्र**—यह सूक्ष्म शरीर का केन्द्र है। नाभि प्रदेश के सामने मेरुदण्ड के अन्दर इसकी स्थिति मानी गयी है। यह नील वर्णीय "कमल दस दलों" का है। जिन पर "डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं तथा फं" अक्षर स्थित हैं। इसका बीज मन्त्र "रं" है जो अग्नि तत्व का द्योतक है। बीज का वाहन मेष है। इसके देवता व शक्ति रुद्र एवं लाकिनी हैं।

मणिपुर चक्र की प्रकृति प्रदत्त सम्भावनाएँ सन्देश एवं विचार हैं। सन्देह का शुद्धतम विकास श्रद्धा को जन्म देता है तथा विचार रूपान्तरित होकर विवेक बन जाता है।

**(४) अनाहत् चक्र**—यह द्वादश दल पद्म हृदय प्रदेश के सामने स्थित है। जिस पर "क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ," अक्षर सिन्दूरी वर्ण में चमकते हैं। इसका बीज मन्त्र "यं" वायुतत्व का सूचक है। इसका वाहन भृङ्ग है। मन्त्र के देव व शक्ति ईशान रुद्र व काकिनी हैं।

इस चक्र का प्राकृतिक रूप कल्पना एवं स्वप्न है जो चरम विकसित होकर संकल्प एवं अतीन्द्रिय दर्शन में रूपान्तरित हो जाते हैं।

**(५) विशुद्ध चक्र**—कण्ठ के मूल में स्थित यह "षोडस दल पद्म" धूम्र वर्ण का है जिस पर "अ से अः" तक स्वरों की स्थिति है। इसका बीज मन्त्र "हं" आकाश तत्व का द्योतक है। इसके इष्टदेव अर्धनारीश्वर हैं तथा शक्ति शाकिनी है।

यह चक्र शरीर से सम्बन्धित है तथा शुद्धिकरण का केन्द्र है। यह वह स्थान है जहां दिव्य-रस अमृत का पान किया जा सकता है।

**(६) आज्ञाचक्र**—इस चक्र को तृतीय नेत्र, ज्ञान चक्षु, त्रिकुटी, गुरुचक्र या शिव नेत्र भी कहा जाता है। इसका प्रतीक श्वेत वर्ण का "द्विदल पद्म" है जिस पर "हं एवं क्षं" स्वर स्थित हैं। यह चक्र भ्रूमध्य के सामने स्थित है। इसके मन्त्र का बीज मन्त्र प्रणव (ॐ) है एवम् वाहन नन्दी है। इसके इष्टदेव परम शिव हाकिनी हैं। इसका तत्व सूक्ष्म मन या मानस है।

यह चक्र ब्रह्म शरीर का केन्द्र है। परम अस्तित्व को इस छठवें केन्द्र से ही जाना जा सकता है।

**(७) सहस्रार**—वस्तुतः यह चक्र नहीं वरन् उच्चतम चेतना का निवास स्थान है जो सहस्र दल वाले अनकीलि कमल पुष्प के समान दृष्टिगोचर होता है। यह चक्र सातवें अर्थात् निर्वाण शरीर से सम्बन्धित है। यही वह स्थान है जहां गुरु शिव शक्ति का आश्चर्यजनक योग, चेतना का, तत्व एवं शक्ति से संयोग है तथा व्यक्तिगत आत्मा का असीम आत्मा से मिलन होता है। इसके हजार दलों पर बीस बार प्रत्येक स्वर तथा व्यञ्जन स्थित माने गये हैं।

इसे दशम् द्वार या ब्रह्मरन्ध्र भी कहा गया है। यह सूर्य के समान प्रकाशमान सही रूप में जीवात्मा का मोक्षद्वार है। विरले योगी ही सहस्रार जागरण में सफल हो पाते हैं।

# गुरुपूर्णिमा

ॐ श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा
३०६-ए (अभिषेक) 'प्रियानिकुञ्ज' एल्डिको-
उद्यान दो, अलरेटिया, रायबरेली रोड,
(लखनऊ)

आषाढ़ मास की पूर्णिमा गुरुपूर्णिमा के रूप में ख्यात रही है। इसे ही व्यास पूर्णिमा के नाम से भी जाना जाता है। गुरु-पूर्णिमा का प्रवर्तन या प्रचलन कब से हुआ, क्यों हुआ, इस बारे में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तथापि यह निर्विवाद है है कि प्राचीन काल में गुरु का महत्व माता या पिता से भी अधिक आंका जाता रहा है। माता-पिता तो मात्र किसी व्यक्ति के जन्म उसके भरण-पोषण आदि के दायित्वों की पूर्ति करते हैं परन्तु गुरु मनुष्य को अविद्या जनित अन्धकार से मुक्ति दिलाकर उसको प्रकाश की ओर अग्रसर करते रहे हैं। गुरु ही इस भवसागर में एक कर्णधार की भाँति होकर उसे आसन्न समस्त विपत्तियों से उबार कर, उसके संस्कारों के अनुरूप दीक्षित करते हुए श्रेयस्कर मार्ग पर आरूढ़ कराते रहे हैं। हैं। गुरु की इसी अतिशायिनी महिमा के के कारण ही गुरु का स्थान सर्वोपरि तथा सर्वाग्रणी माना जाता रहा है।

हमारे शास्त्रकारों ने गुरु के इसी महत्व का आकलन करते हुए निम्नांकित श्लोक में उन्हें ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश जैसी उपाधियों से समलंकृत कर दिया है और जो वस्तुतः उचित भी है।

**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।**
**गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**

अर्थात् श्रीसद्गुरुदेव को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा देते हुए, उनसे भी ऊपर साक्षात् परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गुरु की महिमा अपरम्पार है। गुरु का तात्पर्य भी हमें उसकी महिमा के अनुसार ही समझना होगा। आजकल प्रचलित भाषा में तो किसी को कोई कार्य सिद्ध करना हो तो उन्हें भी गुरु कहकर सम्बोधित कर दिया जाता है। क्या वे भी इस कोटि में आ सकते हैं? कदापि नहीं। हमारे शास्त्रकारों ने प्राचीन काल में जिस परम्परा का श्री गणेश किया था उसके अनुसार तो गुरु उसे ही स्वीकार किया था जो अज्ञानरूपी अन्धकार से प्रकाश-पथ की ओर ले जाने की सामर्थ्य रखता हो। इसीलिये कहा गया है—

**श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं**
**समित्पाणि समधिगच्छेत्।**

ऐसे गुरु की अवधारणा की गई है जो श्रोत्रिय हो। श्रुति कहते हैं वेद को। जो श्रुति परम्परा से शिष्यानुशिष्य अक्षुण्ण रूप में स्थापित होता रहे, ऐसे श्रुति-सम्पन्न तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु, जो परब्रह्म स्वरूप में ही लीन रहते हों उनके पास जाकर शिष्य को ज्ञान प्राप्त करने की आज्ञा दी जाती रही है। प्राचीन परम्परा में गुरुकुल में, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, गुरु की ही सेवा-सुश्रूषा में अध्ययन कार्य हुआ करता था और गुरु भी निस्पृह भाव से अपने शिष्य को ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्रदान किया करते थे। चौदह

विद्याओं में पारंगत होने के पश्चात् वह भी गुरु-रूप हो जाया करता था।

समय-चक्र के परिवर्तित होते ही धीरे-धीरे समस्त प्राचीन परम्पराओं और विद्याओं का लोप हुआ और लोगों ने जमाने के अनुरूप शिक्षा पद्धति को नये रूप में स्वीकारा। पहले हमारे यहाँ विद्या का अर्थ हुआ करता था "सा विद्या या विमुक्तये" और "विद्ययाऽमृतमश्नुते"—अर्थात् विद्या उसे कहा जाता था जो मुक्ति के लिये होती थी और इस विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति हुआ करती थी। परन्तु परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में तो सब कुछ उलट-सा गया है। अब तो शिष्य और गुरु का वह पवित्र नाता न होकर मात्र व्यवसाय परक ही लक्ष्य उभय पक्ष का हो चुका है। शिष्य उसी गुरु की शरण स्वीकार करते हैं जो उसे विषय-विशेष की शिक्षा सिखाकर इस योग्य बना दे कि वह किसी भी वृत्ति का समाश्रय ले अपनी रोजी-रोटी कमाने लायक हो जाय। उसे ब्रह्म विद्या से क्या लेना देना है। उसे तो संसारी बनना है और संसार के दुःखों में ही आनन्द का अनुभव करना है। अब हम कह सकते हैं कि "सा विद्या या तु बन्धये"। अस्तु! तथापि हम कह सकते हैं कि ऐसा नहीं है कि संसार से गुणों का सर्वथा लोप ही हो गया हो या ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों का अभाव हो हो। हाँ, इतना कह सकते हैं कि जहाँ पहले सभी गुरु ब्रह्मनिष्ठ और आचार-विचारवान् आचार्य हुआ करते थे अब वह आचार्यत्व ढूंढे नहीं मिलता, विमुक्ति पथ की कौन कहे। फिर भी जिनकी जिज्ञासा बलवती है वे अवश्य ही सद्गुरुदेव को प्राप्त कर लिया करते हैं। उनके संस्कार उन्हें उस मार्ग की ओर प्रवृत्त कर दिया करते हैं और गुरु भी ऐसे ही संस्कारवान् शिष्यों को अपने ज्ञानोपदेश द्वारा दीक्षादि प्रदान कर उसे कृतार्थ कर दिया करते हैं। जैसा कि हिन्दी में एक पद्य बहुधा सुनाई देता है "गुन न हिरानो गुनगाहक हिरानो है"। गुण को ग्रहण करने वाले व्यक्ति का अभाव हुआ करते हैं।

गुरु के प्रति आस्था रखना ही सफलता का प्रथम सोपान है। वही ग्रहण कर सकता है जो बिना तर्क-वितर्क किये गुरु वाक्यों का अक्षरशः पालन कर सके। गुरु के विषय में निम्नाङ्कित श्लोक में कितना सजीव तथा सुन्दर, प्रेरणादायक तथा सटीक चित्रण है।

**ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति ''**

अर्थात्, सद्गुरुदेव निरन्तर ब्रह्मस्वरूप हुआ करते हैं। ब्रह्मानन्द के आगे जितने भी दृश्यमाण ऐन्द्रिक सुख आनन्द के कारण प्रतीत होते हैं वे सब नगण्य, हेय व तुच्छ प्रतीत होते हैं। ब्रह्मानन्द के सदृश परमानन्द कोई है ही नहीं। इसकी प्राप्ति के पश्चात् तो भगवद् वचनानुसार 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।' ब्रह्म-रमण जनों को तो विषय रूपी मृगतृष्णा किसी भी प्रकार से बाधक नहीं हुआ करती। विषयों के रस सब फीके व सारहीन से लगा करते हैं। अद्भुत रूप में इस पथ के पथिक का यह परम प्रिय व प्राप्तव्य लक्ष्य व पाथेय हुआ करता है। श्री सद्गुरुदेव के अनुग्रह के द्वारा ही समस्त अभीष्ट-कार्यों की सिद्धियाँ हो

शोभा करती है। श्रद्धा व विश्वास के ये दो पाथेय ही हमें उनके समक्ष पात्रता की कोटि में लाकर खड़ा किया करते हैं।

इसके अतिरिक्त गुरु के विषय में यह भी कितना समीचीन कहा गया है—

**ध्यान मूलं गुरोर्मूर्तिः**
**पूजामूलं गुरोः पदम्।**
**मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं,**
**श्रद्धामूलं गुरोः कृपा॥**

अर्थात् गुरु की मूर्ति, उनके शरीर का आकार-प्रकार ही नख शिख तक ध्येय है अथवा ध्यान करने योग्य है। गुरु के पाद ही पूजा के मूल हैं अर्थात् पूज्य हैं। गुरु के वाक्य ही या उनके उच्चरित शब्द, मूल ही मन्त्र स्वरूप हैं और उनकी कृपा, मात्र प्राप्त होती है उनके ऊपर अटूट श्रद्धा के कारण ही।

आषाढ़ पूर्णिमा को प्रतिवर्ष मनाया जाने वाला यह गुरुपूर्णिमा का पर्व हमारी भारतीय संस्कृति में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पर्व है। इस पर्व को पूर्णिमा में ही रखा गया है। जिस प्रकार चन्द्र अपने पूर्णत्व में शीतल, सौम्य व सुखद हुआ करता है, उसी प्रकार गुरु भी पूर्णत्व को प्राप्त होने के कारण शिष्य के लिये परम श्रेयस्कारी हुआ करता है। जीवन-मरण के इस दुश्चक्र से मुक्त कराने की सामर्थ्य यदि है तो वह मात्र सद्गुरुदेव में ही हुआ करती है जो वस्तुतः हमारे जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य भी है। गुरु वह तत्त्व है जो हमारे संस्कारों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् हमें तदनुसार श्रेयस्कर मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। गुरु त्रिकालज्ञ होते हैं। वे जानते हैं कि अमुक शिष्य के लिये कौन-सा मार्ग अनुकूल रहेगा। वह जिस मार्ग का अवलम्ब लेकर इस श्रेयस्कर पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहेगा।

सन्त कबीर और गुरुभक्ति की प्रतिमूर्ति साध्वी सहजो बाई तथा अन्यान्य समकालीन भक्तगण गुरु को ही सर्वस्व मानते हुए यहाँ कह चुके हैं—

'शीश दिये यदि गुरु मिलें तो भी सस्ता जान।'

×          ×          ×

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े,
काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने,
जिन गोविन्द दियो दिखाय॥

गुरुगीता में तो गुरु की महिमा का वर्णन देवेश महेश्वर ने स्वयं स्व मुखारविन्द से किया है।

सच्चे शिष्य की अवधारणा परम पवित्र तथा तर्क-वितर्क अथवा कुतर्क आदि से रहित हुआ करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवद् वचनानुसार भी—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' श्रद्धा ही प्रमुख कारक तत्त्व है किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये।

यह वह दिन है जिस दिन हम अपने सद्गुरुदेव के गुणों का अवलोकन करते हुए उन्हें अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित किया करते हैं तथा उनके द्वारा समर्पित अक्षय निधि के लिये उनके प्रति कृतज्ञता भरे भावों का अभिव्यक्तीकरण उनके विग्रह की पूजा-अर्चा कर आत्मोद्धार करने का प्रयास करते हैं।

हमारे सद्गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री विभूषित श्री चन्द्रमोहनजी महाराज साक्षात् शिव स्वरूप ही हमारे आपके सबके मध्य विराजमान रहे हैं। उनका समग्र जीवन

तपोमय तथा योगमय रहा है। वे यद्यपि स्थूल विग्रह से हमारे मध्य नहीं रहे परन्तु वे हमारे अन्तरतम तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में हमारे विचारों व प्रेरणाओं के स्रोत बन चुके हैं। वे एक आलोकस्तम्भ की भाँति सर्वथा हमारे जीवन-पथ को आलोकित करते रहेंगे। उनके द्वारा ही आलोकित एवम् प्रदर्शित पथ पर, हम यत्किंचित् भी अपने जीवन में आचरण-शीलता ले आने में सफल रहे तो हम इस लोक और परलोक दोनों को सुधार ले जावेंगे तथा अवश्यमेव कृतकृत्य एवम् धन्य हो जावेंगे।

आइये, हम श्रद्धा व विनयभाव से श्री सद्गुरुदेव को नतशिर हो इस गुरुपूर्णिमा के पर्व पर नमन करें व उनके गुणों का गायन करें। जय श्री सद्गुरुदेव।

## कौन इन्द्रिय किस काम में लगे?

कुबेरपुत्र भगवान् से कहते हैं—

**वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।**
**स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥**

(श्रीमद्भा० १०/१०/३८)

हे प्रभो! वाणी आपके गुणों के गायन में, कान आपकी कथा के श्रवण में, हाथ आपके कर्म में, मन आपके चरण-कमलों की स्मृति में, सिर आपके निवासस्थान जगत् के प्रणाम में और आँखें आपके शरीरभूत सन्तों के दर्शन में लगी रहें। ★

### सुख और शान्ति

जीवन में सुख का नहीं अपितु शान्ति का महत्त्व है। इसलिये सुख के सम्पूर्ण साधनों को छोड़कर भी मनुष्य को तत्कालिक शान्ति प्राप्त करने के लिये नींद लेनी पड़ती है।

यह नींद भी हमें कहती है कि शान्ति और आनन्द बाहर के साधनों में नहीं, बल्कि अन्तर के समाधान में है।

नींद से भोजन और पैसा नहीं प्राप्त होता, फिर भी उसके बिना मनुष्य का काम न तो चलता है और न चल सकता है।

नींद आन्तरिक आनन्द प्रदान करती है, इसलिये सबके लिये अनिवार्य है।

यह आनन्द बाहरी साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता, अतः जीवन में शान्ति एवं आनन्द प्राप्ति के लिए अन्तर में गोता लगाना आवश्यक है।

किसी भी प्रकार के सुख का उपभोग न करने का दृढ़ निश्चय करके अन्तर्मुखी होने वाले को ही अनन्त आनन्द और शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। ★

# श्री गुरुपूर्णिमा

## श्री गुरुपूर्णिमा के पावन पर्व पर श्री सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के श्री चरणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित

❀ श्री ब्र० ओमप्रकाश पालीवाल (लखनऊ)

हे ! योगिराज गुरु चन्द्रमोहन, चरणों में शत-शत करूँ नमन ।
हे ! परम सिद्ध, हे ! योगनिष्ठ, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥
जो दिया आपने योगामृत, जग हुआ धन्य उसको पाकर ।
मिट गई तृषा मिल गई शान्ति, प्रभु चरण धूलि तुम्हारी पाकर ॥
हे ! पूर्ण ब्रह्म जगदेव रूप, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥१॥
तप योग समाधि में तुमने, दिव्य योग निधी जो पाई थी ।
दोनों हाथों वो योग निधी, गुरु तुमने खूब लुटाई थी ॥
हे ! योग सिद्ध, हे ! तपो निष्ठ, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥२॥
सारा जीवन जग के हित में, गुरुदेव आपने वार दिया ।
कितने अति पतित प्राणियों का, सद्गुरु तुमने उद्धार किया ॥
हे ! दीन बन्धु, हे ! कृपा सिन्धु, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥३॥
प्रभु मिले तो जीवन धन्य हुआ, अन्यथा यह व्यर्थ चला जाता ।
मुझसे लाखों ही मिले तुम्हें, तुमसा गुरु कहीं न मैं पाता ॥
आनन्द कन्द कल्याण रूप, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥४॥
भव-निधि से पार हमें करने, सद्गुरु तुमने अवतार लिया ।
सिद्ध योग सुधा हमको देकर, शिव बन तुमने विष पान किया ॥
हे ! योगेश्वर, हे ! विश्वेश्वर, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥५॥
मिट गये मोह भ्रम संशय सब, गुरु ज्योति रूप दर्शन पाकर ।
मिटा जन्म-मरण का भव चक्कर, गुरुदेव शरण तेरी आकर ॥
हे ! चन्द्रमौलि, हे ! योगभानु, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥६॥
पूनम के चाँद सम थे शीतल, सागर जैसे गम्भीर थे तुम ।
शंकर समान थे भोले तुम, श्रीकृष्ण सरीखे धीर थे तुम ॥
हे ! मनमोहन, हे ! त्रिपुरारी, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥७॥
सिद्ध योग ज्ञान की गङ्गा तुम, प्रभु सदा बहाया करते थे ।
प्रभु रामलाल योगेश्वर की, गाथा तुम गाया करते थे ॥
हे ! युग द्रष्टा, हे ! युगावतार, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥८॥
योगदर्शन गीता ज्ञान दिया, अष्टांग योग पथ दर्शाया ।
दे आत्म मन्त्र और ध्यान हमें, हम सबसे साधन करवाया ॥
हे ! पातञ्जलि, हे ! कपिल मुनी, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥९॥
बाहर नभ पूनम चाँद उगा, तुम चन्द्र हृदय आकाश के हो ।
वह चाँद धरा से दूर बहुत, तुम सदा हृदय के पास के हो ॥
हे ! पूर्ण ब्रह्म, परिपूर्ण गुरु, प्रभु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥१०॥
है गुरु पूर्णिमा आज तेरी, पूर्ण सबकी गुरु आस करो ।
तुम चन्द्र "ओम्" हे ! मेघ श्याम, दे ज्योति मोह तम दूर करो ॥
हे ! सिद्ध गुफा के सिद्ध-भूप, गुरु कोटि-कोटि है तुम्हें नमन ॥११॥

# साधना और सिद्धि

स्वामी श्री असंगानन्द जी महाराज

साधना के विशाल एवं व्यापक क्षेत्र पर यदि हम उदार दृष्टि डालें तो हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन साधना का अनन्त क्षेत्र है। 'जैसी करनी वैसा फल'—यह एक ऐसा सत्य सिद्धान्त है जो हमारे जीवन के समग्र शारीरिक और मानसिक कर्मों में—एक-एक कार्य में लागू होता है; वह कार्य चाहे जिस प्रकार का हो—उसका सम्बन्ध कला से हो या साहित्य से हो, चित्रकारी से हो, सङ्गीत से हो या संस्कृति से हो—सर्वत्र समान रूप से यह सिद्धान्त घटता ही है। ऊपर हम जितने भी क्षेत्र गिना आये हैं, उनमें हमें सफलता उतने ही अंश में मिलती है, जितने अंश में हम उसमें निष्ठा एवम् शक्ति के साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यदि हमने अपनी चरम लक्ष्य-सिद्धि के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया, जी-जान से परिश्रम नहीं किया तो हमारे लिये अपनी असफलता पर दुःख करने का, खिन्न होने का कोई कारण नहीं है। अतिचेतन और अतीन्द्रिय परमात्मसत्ता की उपलब्धि के लिये हम जो कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं—ध्यान, चिन्तन, पूजा, जप, आसन, भजन इत्यादि—सब साधना की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

सभी सन्त-महात्माओं तथा धर्मसंस्थापकों ने अत्यन्त कठिन-कठोर साधना के द्वारा ही आत्मज्ञान का प्रकाश पाया और आत्मानुभूति के दिव्य प्रकाश में ही उन्होंने जगत् के लिये भगवान का पथ ढूंढ निकाला, भगवत्साक्षात्कार अथवा निर्वाण का मार्ग आलोकित किया। और यही कारण है कि इन आत्मदर्शी सन्त-महात्माओं के चरण-चिन्हों का अनुसरण कर, उनके आदेश और आचरण का अनुकरण कर आज भी एक सच्चा साधक, भगवान के पथ पर चलने-वाला एक निष्ठावान् पुरुष आध्यात्मिक साधना की एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है, क्योंकि वह महात्माओं के बताये हुए उस मार्ग पर चल रहा है, जिसका उल्लेख संसार के धर्मशास्त्रों एवम् अध्यात्म ग्रन्थों में बहुत विस्तार से हुआ है। साधना का यह पथ इतना प्रशस्त, सुरक्षित एवम् सुनिश्चित है कि साधक को इधर-उधर भटकने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि उन सन्त-महात्माओं ने जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभव से लिखा है, उनके उपदेश और आचरण में पूर्णतः एकता थी, वे वही बात लिखते थे जिसका उन्हें अनुभव था और इसीलिये उनके उपदेशों में जीवन एवम् शक्ति भरी पड़ी है। ऐसे सन्त-महात्मा जिस धर्म में जितने भी

अधिक होंगे, वह धर्म उतना ही दीर्घजीवी और स्थायी होगा। परन्तु खेद का विषय है कि बीच-बीच में अपकर्ष की अन्तर्दशा भी आती रहती है और उस समय उन महात्मा द्वारा प्रज्वलित आत्मज्ञान की ज्वाला धूमाच्छन्न हो जाती है। परन्तु वह तेज है तो सनातन, चिरप्रकाशमान और दिव्य। इसी कारण वह केवल धूमाच्छन्न होता है, बुझता नहीं—बुझ सकता ही नहीं। इसलिए एक सच्चा साधक अवसाद और अपकर्ष की अन्तर्दशा से निराश एवम् म्लान नहीं होता, अपितु अपनी कठोर तपस्या एवम् तीव्र साधना से वह समस्त साधन-पथ को आलोकित कर देता है—उसमें नवीन प्राण, नूतन जीवन डालकर पुनः प्रज्वलमान कर देता है।

संसार के धर्मशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सनातन धर्म के अतिरिक्त सभी धर्मों ने अपने अपने अनुयायियों के मानसिक विकास के लिये एक सुनिश्चित साधन-प्रणाली निर्धारित कर दी जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की भावना, ध्यान, चिन्तन तथा साधना की प्रक्रियाओं का निर्देश है। परन्तु हिन्दू धर्म ने अपने अनुयायियों की मनोदशा, प्रवृत्ति आदि का ध्यान रखकर अनेकों प्रकार की साधन-शैली का अनुसन्धान एवम् उद्घाटन किया है जिससे सब लोगों के लिये साधना का पथ सुगम हो—सभी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना कर सकें। अत्यन्त स्थूल मूर्ति-पूजा से लेकर निर्गुण निराकार-चिन्तन तक साधना की कई सीढ़ियाँ हैं। बाहर-बाहर से देखने वालों की बुद्धि में ये बातें आ ही नहीं सकती। न वे इसका रहस्य ही समझ सकते हैं। सनातन धर्म तो एक ऐसी माता के समान है, जो अपनी सन्तान की वय और शक्ति को देखकर तरह-तरह की चीजें उसके उपयुक्त तैयार कर खिलाती रहती है और उसका स्नेह के साथ भरण-पोषण करती है। सच तो यह है कि हमारे पूर्वपुरुष, हमारे ऋषि-महर्षि और सिद्ध पुरुष—जो हिमाच्छादित गगनचुम्बी महामहिम हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए इस आर्यदेश में एक छोर से दूसरे छोर तक रहते थे—वस्तुतः वे आत्मज्ञान में बड़े ही निपुण एवम् पारंगत थे, ज्ञान-विज्ञान में विशारद थे। उनके बताये हुए साधन-मार्ग एवम् साधन-प्रणाली का सचाई के साथ अनुसरण कर हम निश्चय ही अपने दुर्जेय-दुर्धर्ष मन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसे पवित्र बना सकते हैं, जिसके द्वारा इस शरीर रूपी पिंजड़े के भीतर बन्द हंस उन्मुक्त होकर कुरेल कर सकता है। हमारे वे ऋषि-महर्षि सच्चे अर्थ में विज्ञानवेत्ता थे और आज भी उनके विज्ञान-ज्ञान का संसार लोहा मानता है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी अनुभव किये, वे भले ही अवर्णनीय एवम् अचिन्त्य हों, परन्तु सत्य सदैव उनका अनुमोदन करता है। सत्य सदा उनके अनुभव का आधार है। इसीलिए उनका अनुभव और ज्ञान भी सनातन सत्य की भाँति शाश्वत है, चिरन्तन है।

कुशल-कुशाग्र बुद्धि एवम् सत्य-सनातन

अनुभव में यही अन्तर है। अध्यात्म का विशाल, विस्तृत क्षेत्र बुद्धि के लिये सर्वथा अगम्य ही है। यह बेचारी बुद्धि, जिसका हमें बड़ा गर्व एवम् अभिमान है, वस्तुतः है क्या? यह तो देश-काल कारण से परिच्छिन्न है और यहाँ तक परिच्छिन्न है कि इसका उस लोक में प्रवेश ही नहीं है, जिसमें प्रवेश करने के लिये साधक को देश-काल और कारण को या तो भुलाना पड़ता है या लोप करना पड़ता है। यही कारण है कि सनातन धर्म के आचार्य बार-बार हमारे कानों में यही कहते हैं कि वेदों में विश्वास करो, आप्त वाक्यों में विश्वास करो और इन्हीं के आसरे साधारण मार्ग पर चले चलो, और तब तक चले चलो जब तक अन्तर का पट न खुल जाय। साधना करो, साधना करो; सचाई, निष्ठा और विवेक के साथ साधना करो; शेष सारी बातें अपने-आप हो जायेंगी—यही है हमारे शास्त्रों और ऋषियों की वाणी का सार समुच्चय। दूसरे धर्मों के प्रवर्त्तक तथा आचार्यों का भी यही कहना है और उनकी इस वाणी में एक दिव्य ज्योति गर्भित है। परन्तु जिन लोगों को बुद्धि का अजीर्ण हो गया है, वे सब बातों को अपनी बुद्धि की तुला पर तौलते हैं। उन्हें पता नहीं कि अध्यात्म-पथ में साधना के बिना कुछ भी नहीं बनता और इसीलिये वे इन सन्त-महात्माओं और आचार्यों को कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं।

किसी भी बात के लिये दी हुई शर्तों को पूरा कर देने पर ही सफलता का मार्ग खुलता है। यह एक ऐसा नियम है जो ज्ञान के क्षेत्र में सर्वत्र समान रूप से लागू है और धर्म के क्षेत्र में तो विशेष रूप से। इसीलिये सत्य के, ज्ञान के अथवा भगवद्दर्शन के सच्चे साधक अथवा आत्मार्थी के लिए कुछ नियम होते हैं, कुछ विधियाँ होती हैं, जिनका सम्यक् रूप से पालन करने पर ही मानव-जीवन की चरम सिद्धि होती है। अद्वैत-वेदान्त के साधक को भी, जिसके लिए यह जगत् एक मायाजाल है, नित्यानित्य विवेक, इहामुत्र-फलभोग विराग, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व की शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं और उन्हें पूरा करने पर ही वह संसार के बन्धनों से छूटकर मुक्ति पथ में सफलतापूर्वक जा सकता है। वे ही क्यों, सभी साधकों को चाहे वे कर्मयोगी हों, भक्त हों या राजयोगी हों या और किसी मार्ग के हों—कठिन साधना के मार्ग पर चलना ही पड़ता है, घोर तपस्या करनी पड़ती है और तब जाकर वे सच्ची साधना के सच्चे अधिकारी होते हैं। उन सभी साधनों में, जिनका उल्लेख संसार के धर्म-शास्त्रों ने किया है, चार मुख्य हैं। वे हैं—अक्रोध, धैर्य, आत्मसंयम, सचाई और आत्मोत्सर्ग। केवल कुछ जप का ध्यान कर लेने से ही मनुष्य अपने आदर्श को नहीं पा सकता। भगवान् तो सर्वलोक-महेश्वर हैं, उन्हें किसी शर्त में बाँधा नहीं जा सकता। साधक को चाहिए कि वह असीम धैर्य एवम् साहस के साथ अपनी साधना का अनुष्ठान करता रहे, करता रहे। एक दिन वह देखेगा कि उसके बिना जाने ही प्रभु की असीम अनुकम्पा का प्रवाह उसकी ओर मुड़ गया है और दिव्य लोक का द्वार उसके लिये खुल गया है। देवर्षि नारद तथा दो साधकों की कहानी इस सम्बन्ध में संस्मरणीय है और वस्तुतः बड़ी ही भावपूर्ण है। देवर्षि वीणा बजाते भगवान् के दर्शनों के लिए जा रहे थे। राह में उन्हें दो साधक पृथक्-पृथक् स्थानों में साधना करते हुए मिले। पूछने पर दोनों ने ही यह जानना चाहा कि भगवान् की प्राप्ति कब

होगी। देवर्षि ने भगवान् से इनकी चर्चा चलाई तो भगवान् ने कहा कि एक को तो दस वर्ष में दर्शन होंगे और दूसरे को उतने ही वर्ष लगेंगे, जितने उस इमली के पेड़ में पत्ते हैं, जिसके नीचे बैठे वह साधना कर रहा है। देवर्षि जब लौटे तो पहले ने पूछा। उसे यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि अभी दस वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये उसने साधना छोड़कर घर की राह ली। दूसरा जब मिला तो उससे देवर्षि ने डरते हुए कहा—'भाई, अभी तो बड़ी देर है। इस इमली के पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष बाद श्री हरि तुम्हें दर्शन देंगे।' परन्तु इस साधक के आनन्द का पारावार नहीं रहा। वह आनन्द में नाचने लगा। 'मिलेंगे न ?' बस, यही सोचकर वह प्रभु की कृपा में आत्म-विस्मृत हो डूब गया। भक्ति की धारा उमड़ पड़ी, साधना तीव्र हो गयी और उसे शीघ्र ही भगवान् मिल गये।

धार्मिक जीवन का मूल आधार है आत्म-संयम। आत्मसंयम के बिना साधना हो नहीं सकती। क्षुब्ध और चञ्चल शरीर तथा मन से आध्यात्मिक जगत् में सफलता मिल ही नहीं सकती, सफलता का मिलना सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये। कारण कि जिस शक्ति को संघटित एवम् केन्द्रीभूत करके भगवान् में लगाना है, वही शक्ति अधोमुख होकर क्षरित हो जाती है, नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि मिथ्याचारी पुरुष लोक और परलोक दोनों से ही भ्रष्ट हो जाता है। भगवान् ने अर्जुन को बुरी तरह फटकारा है—बातें तो करते हो पण्डितों की-सी, परन्तु शोक करते हो उन बातों का जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिए! परमहंस रामकृष्ण देव ने कहा है कि मन और मुख को एक करना ही सच्ची साधना है सच्चा साधक जब अपने हृदय को टटोलेगा तो वह देखेगा कि कई तरह की दुर्बलता और अशुचिता उसमें भरी पड़ी है और जब तक ये दुर्बलताएँ और अशुचिताएँ बनी हुई हैं, तब तक वास्तविक एवम् स्थायी सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? यही है आध्यात्मिक जीवन का बीज।

अन्त में एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है। अध्यात्म-पथ में आत्मोत्सर्ग की जितनी भी आवश्यकता समझी जाय, थोड़ी ही है। अध्यात्म आकाश में हम चाहे जितनी भी ऊँची उड़ान लें—योग की चाहे जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर लें—हमें यह जान रखना चाहिए कि जहाँ तक हमारे अन्दर अहङ्कार और ममकार है, जहाँ तक इसका सर्वथा विलोप नहीं हो जाता, वहाँ तक भगवद्दर्शन अथवा मोक्ष एक कल्पनामात्र है। यदि आप भक्त हैं, भक्ति की साधना करते हैं तो 'इति, इति' के मार्ग से चलिये, समन्वय के पथ पर चलिये और अपनी इच्छाओं को, अपने तुच्छ 'अहम्' और 'मम' को भगवद्-इच्छा के महासागर में लीन हो जाने दीजिये। यदि आप ज्ञानी हैं, ज्ञान के मार्ग पर चल रहे हैं तो 'नेति' 'नेति' के द्वारा अपने अहंकार को मिटा दीजिये—व्यतिरेक की पद्धति से।

गीता के अन्त में भगवान् अर्जुन को 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण लो—यह आदेश किया। श्री रामकृष्ण देव का भी अपने भक्तों को कितना दिव्य उपदेश है—'अहंकार के मिट जाने पर जगज्जननी माँ साधक के शव पर अपना नृत्य करती है, वह नृत्य जो एक बार शुरू होकर फिर कभी बन्द नहीं होता।

इस प्रकार समस्त साधनाएँ सिद्धि के महासागर में प्रवेश कर जाती हैं। ★

# प्राणशक्ति और मनःशक्ति का साधन

स्वामी श्री विपुलानन्द जी सरस्वती

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और इन्हीं के अनुक्रम से पाँच ही योग हैं—हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियों को जो वश में कर लेता है, वह संसार विजयी होता है।

## प्राणशक्ति का साधन

प्राणशक्ति को वश में करने वाला साधक इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों और आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डल की वार्ता भी जान सकता है। प्राण के आधार पर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। वही प्राण सबको वायुरूप से प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में इस प्राण का वर्णन है—

**प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री**
**प्राणं सर्वं उपासते।**
**प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः**
**प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥**

'प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है, इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राण को ही प्रजापति कहते हैं।'

प्राणशक्ति के कारण ही हमारे शरीर की नसों एवम् नाड़ियों में रक्त का प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्ति के बल पर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्य की प्राणशक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक शरीर को प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियों का प्राण ही ईश्वर है।

**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**
**यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्**
**सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥**

(अथर्व० कां० ११)

'उस प्राण को मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।'

प्राण परमेश्वर की एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुख से ही जानकर करना चाहिए। मूलाधार चक्र से साधन आरम्भ किया जाता है। बाँये पैर की एड़ी से गुदद्वार को बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रिय के मूल को दोनों एड़ियों से दबाकर कुण्डलिनी को जगाया जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों एड़ियों से दबाने से कुण्डलिनी जागती है। वहाँ से ऊपर चढ़कर मणिपूरचक्र को भेदकर प्राण अनाहतचक्र में पहुँचता है। वहाँ ज्योति का साक्षात्कार होता है। तब और ऊपर चढ़कर विशुद्धचक्र को भेदकर प्राण आज्ञाचक्र में जाता है। वहाँ शिव के दर्शन होते हैं। यहीं

से अमृतस्राव होता है। योगी लोग खेचरी मुद्रा लगाकर इसे पान करते और अमर हो जाते हैं। नाभि में जालन्धरबन्ध और वक्षःस्थल में उड्डीयानबन्ध लगाकर योगी लोग प्राण को मस्तिष्क में ले जाते हैं, वहाँ से ऊपर सहस्रार है—जो श्री विष्णु भगवान का धाम और सब का मोक्ष स्थान है। पूरक, रेचक, कुम्भक—इस त्रिविध प्राणायाम से यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भक से जो प्राण को अपने वश में कर लेता है वह अपनी शक्ति से अनायास आकाश में वायु के समान सञ्चार कर सकता है, सशरीर अन्य लोकों में जा सकता है, अपने स्थान में बैठे-बैठे सहस्रों कोस की दूरी पर अपना कार्य कर सकता है, रोगियों को रोगों से मुक्त कर सकता है, बन्दियों के बन्धन छुड़ा सकता है। यह सब तो मैंने लिख दिया, पर इसका साधन गुरु के समीप रहकर ही ठीक तरह से हो सकता है।

### मनःशक्ति का साधन

मन बड़ा चञ्चल है। यही बात अर्जुन जैसे धीर-वीर ने मनःसंयम के प्रसङ्ग में कही है—

**चञ्चलं हि मनः कृष्ण**
**प्रमाथि बलवद् दृढम्।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये**
**वायोरिव सुदुष्करम्॥**

'यह मन बड़ा चञ्चल, बड़ा बलवान, दृढ़ और मथने वाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायु की गति को रोकने के समान अत्यन्त कठिन है।'

मन का यह स्वभाव है कि यह बन्दर की तरह यहाँ से वहाँ, एक डार पर से दूसरी डार पर कूदता-फाँदता रहता है। एक क्षणमें उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम की सैर कर आता है, बात-की-बात में चारों धाम की यात्रा और पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। इसकी चञ्चलता का क्या ठिकाना है। मन-दुर्योधन से युद्ध किये बिना आत्मराज्य का पाना असम्भव है और बिना राज्य के सुख और भोग कहाँ? परन्तु यह इतना बलवान् है कि सहस्रों हाथियों के पाँवों में जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहों को पिंजड़े में बन्द रखना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं। मन ने ही तो काशीपति श्री विश्वनाथ की समाधि भङ्ग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्ति-जैसे महातपस्वियों को पृथ्वी पर पटक दिया था, देवर्षि नारद को अपने मोहनास्त्र से बाँध लिया था और भगवान् रामचन्द्र तक को पत्नी-वियोग से रुला दिया था। यह अपनी ही चाल पर इतनी ही दृढ़ता से डटा रहता है कि किसी के हटाये वहाँ से हटता ही नहीं और सब इन्द्रियों को अपने अधीन करके सारे शरीर में खलबली मचा देता है। इसे तो लक्ष्मण-जैसे यति, हनुमान-जैसे योद्धा, भीष्मपितामह-जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। योग जो कुछ है, इसी मन की वृत्तियों का निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है वह मन के द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा, मन के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जब यह मन शुभ सङ्कल्पों वाला होता है, तब वह अनन्त सुख का कारण होता है। इसकी बिखरी हुई सब वृत्तियाँ, जब किसी स्थान में एकाग्र निरुद्ध होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष, दोनों का कारण मन ही है।

शास्त्रों ने इस मन को स्थिर करने के उपाय बताये हैं। पर बड़े भाग्य और पुण्य के प्रताप से ही किसी का मन स्थिर और शान्त हो पाता है। अब अधिक विस्तार न करके मन को स्थिर करने और मनःशक्ति प्राप्त करने का एक साधन यहाँ लिखते हैं। मन का दस मञ्जिल मकान है, एक-एक मुकाम पर सौ-सौ पैड़ियाँ हैं। इस मकान की छत पर जो साधक चढ़ जाय और फिर उलटे पैरों लौट आये, वही सन्त है—चाहे वह गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी, वर्ण और जाति में श्रेष्ठ हो या कनिष्ठ से भी कनिष्ठ। यहाँ—

**जाति-पाँति पूछे नहिं कोई।**
**हरि को भजे सो हरि का होई॥**

मन का यह मकान मनःकल्पित ही है। आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, ॐ—चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये। यह एक मुकाम है। वहाँ से उलटे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एक पर आइये। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए एक हजार तक चढ़ जाइये, फिर वहाँ से उलटे पैरों लौटिये। आप देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है। अब दो हजार तक चढ़िये, यह दूसरी मञ्जिल आ गई। वहाँ से उलटे पैरों फिर लौटिये। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी, सातवी, आठवीं, नवीं और दसवीं मञ्जिल तक—१० हजार तक चढ़ जाइये और उलटी गिनती करते हुए लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जप भी होगा। पर इस प्रकार जप का होना और उलटी सीधी गिनती में मन का लगना भी बड़े पुण्य से होता है। महान् पुण्योदय के बिना भगवान् की ओर मन नहीं लगता।

**प्राण और मन का साधन सङ्ग**

प्राणायाम करते हुए कुम्भक की क्रिया में जहाँ प्राण रुकेगा, वहाँ मन भी स्थिर होगा—यह निश्चित बात है। मनः साधन की गिनती करते हुए जब आप एक हजार तक पहुँचें तब वहीं चुप होकर बैठ जायँ, मन को कहीं इधर-उधर जाने न दें। इसके बाद लौटिये। जब एक पर आ जावें तब चुप होकर मन को भीतर ही रोक रक्खें और कुछ देर हृदय और नाभिचक्र का ध्यान करें। फिर अधखुले नेत्रों से, मन को नासिका के अग्र भाग पर या भ्रूमध्य में स्थिर करें। इस अभ्यास से यह मन कुछ दिनों में शान्त होगा, आपको बड़ा आनन्द आवेगा और आत्मानुभव होने लगेगा।

पलङ्ग या चारपाई पर लेट जाओ। तकिया हटा दो। कपड़ों को ढीला कर दो। शरीर को भी ढीला करदो। प्राण को उलटा खींचो, पेट में ले जाओ, फिर छाती तक ले जाओ, फिर पेट में नाभि तक घुमाओ। ऐसा करने से आपका नाभि-सूर्य प्रकाशित होगा। कुछ दिन इस प्रकार करके तब मन को इसी में लगाने से बड़ी शान्ति मिलेगी।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हो तो किसी मैदान में खड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़ दो, हाथों को नीचे लटका दो, प्राण को आकाश में फेंक दो। फिर प्राण को भीतर खींचते हुए मन से यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्ति को खींचकर अपने अन्दर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करने से आप में उस शक्ति का प्रवेश हो जायगा। हमारे पूर्व महान् पुरुष मन और प्राण की इन शक्तियों से जो चाहते कर सकते थे। आप भी साधन सम्पन्न होंगे तो जो चाहेंगे कर सकेंगे। (शेष पृष्ठ ३० पर)

# संस्कारों को दूर करने के उपाय

❀ श्री मेहेर बाबा

## संस्कारों का प्रक्षालन

> सद्गुरु से प्राप्त अनुभव चिन्ह अन्य अनुभव चिन्हों का लोप करके चेतना को परिवर्तित कर देते हैं।

**स**द्गुरु अथवा, पूर्णगुरु के प्रति प्रेम विशेषतः महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी बदौलत सद्गुरु से सम्पर्क प्राप्त होता है। ऐसे सम्पर्क के द्वारा जिज्ञासु को सद्गुरु से जो अनुभव या चित्त संस्कार उपलब्ध होते हैं उनमें पूर्व-जन्मार्जित संस्कारों को अन्यथा करने की विशेष क्षमता होती है। ये अनुभव चिन्ह जिज्ञासु के जीवन की दिशा को एकदम बदल देते हैं। ऐसे अनुभव चिन्हों को ग्रहण करने वाला जीवन की अपनी पुरानी आदतों तथा विचार-पद्धतियों को बिल्कुल छोड़ देता है। सद्गुरु के सम्पर्क से भ्रष्ट से भ्रष्ट जीवन की काया पलट तथा उन्नति हो जाती है। भले ही इहलौकिक तृष्णाओं और वासनाओं की तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सोच-विचार किये बिना दुर्व्यसन तथा दुराचार की जिन्दगी बिताकर अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहा हो। चाहे अधिकार और शक्ति की पिपासा का वह क्रीत दास बन चुका हो और धनार्जन तथा धन-संग्रह करके आमोद-प्रमोद करने के सिवा उसका अन्य कोई आदर्श न हो। किन्तु सांसारिक शृंखलाओं से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न में भी ख्याल न करने वाले ऐसे मनुष्य को भी यह मालूम होते देर न लगेगी कि सद्गुरु के संसर्ग से उसे जो संस्कार प्राप्त होते हैं उनमें उसकी पुरानी आदतों तथा विचार-विधियों पर सदा के लिये यवनिका-पात करने की शक्ति होती है और वे उसके लिये उन्नततर तथा स्वतन्त्रता जीवन की नवीन विधियाँ खोल देते हैं। सद्गुरु से प्राप्त होने वाले अनुभव-चिन्ह बुद्धि-प्रधान तथा सुशिक्षित मनुष्य के लिये भी कम लाभदायक नहीं होते हैं। ऐसे (बुद्धि-प्रधान तथा सुशिक्षित) मनुष्यों की दृष्टि भी संकुचित ही हुआ करती है। अधिक हुआ तो उसकी कल्पना साहित्य तथा कला के सौन्दर्य का रसास्वादन कर सकती है और उसकी परोपकारिता पड़ोस अथवा देश की सीमा तक ही परिमित रहती है। सद्गुरु के अनुभव चिन्हों की प्राप्ति होने पर ऐसा मनुष्य अधिक उत्कृष्ट जीवन का अनुभव कर सकता है।

---

(पृष्ठ २९ का शेष)

पांच शक्तियों में से मनःशक्ति और प्राणशक्ति का यहां तक कुछ वर्णन किया गया। क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति इन्हीं दो शक्तियों में समा जाती हैं; इनका पृथक्-पृथक् वर्णन यहां नहीं किया गया। जो लोग इन दो शक्तियों का शोधन कर लेंगे, उन्हें इनके गुणों का आप ही अनुभव होगा। ★

**सद्गुरु की मध्यस्थता के द्वारा समस्त संस्कारों का प्रक्षालन**

सद्गुरु जिज्ञासु की चेतना की सामान्य बौद्धिक सतह से ऊपर उठाकर देवज्ञान (inspiration) तथा अन्तर्ज्ञान (intuition) की सतह में पहुँचा सकता है और फिर वहाँ से वह उसे अतीन्द्रिय ज्ञान (insight) तथा आत्मज्ञान (illumination) की सतह तक पहुँचा सकता है और अन्ततोगत्वा वह उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करा सकता है। जिज्ञासु का यह उत्थान उसके पार्थिव क्षेत्र से सूक्ष्म क्षेत्र, सूक्ष्म क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र तथा मानसिक क्षेत्र से मुक्तावस्था में क्रमशः होने से सम्बन्ध रखता है। समस्त संस्कारों—प्राकृतिक या अप्राकृतिक-विधायक या निषेधात्मक—का पूर्ण प्रक्षालन ही जिज्ञासु का अन्तिम कदम है। लकड़ी पर लपेटे हुए धागे वाले सादृश्य के अनुसार संस्कारों के प्रक्षालन की प्रक्रिया धागे को कैंची से काटने के समान है। समस्त संस्कारों का उच्छेदन करना और इस प्रकार चेतना को सभी भ्रमों और बन्धनों से मुक्त करना सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना कदापि सम्भव नहीं है।

**पूर्ण आत्म-समर्पण की आवश्यकता**

किन्तु सद्गुरु के द्वारा ऐसी सक्रिय मध्यस्थता तभी सम्भव है जब जिज्ञासु तथा सद्गुरु के बीच अवरोध रहित सम्बन्ध हो और ऐसा अवरोध रहित सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब जिज्ञासु गुरु के हाथों में अपना पूर्ण आत्म-समर्पण करने में सफल होता है। आत्म-समर्पण का अर्थ है गुरु की सभी आज्ञाओं का पालन करना। जब तुम्हारे सभी कार्य तथा इच्छाएँ गुरु के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं और जब वे तुम्हारे द्वारा उनकी आज्ञाओं का पालन करने का परिणाम मात्र हैं तब उनके लिए गुरु ही प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार है। इस भाँति जब आत्म-समर्पण पक्का होता है तो संस्कारों से तुम्हारे निस्तार पाने का उत्तरदायित्व गुरु पर आरोपित हो जाता है और इस नवीन स्थिति में गुरु को तुम्हारे संस्कारों को उन्मूल करते देर नहीं लगती।

**बौद्धिक आज्ञा-पालन**

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्म-समर्पण का अर्थ है आज्ञा-पालन। आज्ञा-पालन के दो प्रकार हैं—(१) बौद्धिक तथा (२) शाब्दिक। बौद्धिक आज्ञा-पालन की अपेक्षा शाब्दिक आज्ञा-पालन अधिक फलदायक है किन्तु बौद्धिक आज्ञा-पालन पहले आता है और वह शाब्दिक आज्ञा-पालन की प्रस्तावना है। जब गुरु की महानता एवं सिद्धि का तुम्हारी बुद्धि को विश्वास हो जाता है, तब तुम्हारे हृदय में उनके लिये प्रेम तथा आदर उत्पन्न हो जाता है किन्तु उनकी आज्ञाओं का शब्दशः-अक्षरशः पालन करने में तुम अपने को असमर्थ पाते हो। चूँकि तर्क तुम्हारे विश्वास का आधार होता है अतः गुरु तथा उनकी आज्ञाओं को समझने में तर्क का आश्रय न लेना तुम्हारे लिए कठिन होता है। तुम्हारी बुद्धि तथा गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा अविभाज्य रूप से गुँथी रहती है अतः तर्क-सम्मत या बुद्धि-गम्य आज्ञाओं का ही पालन तुम कर सकते हो। गुरु शिष्य की इस मानसिक अवस्था को नहीं छेड़ता और वह उसकी रुचि तथा योग्यता के अनुकूल केवल बुद्धि-ग्राह्य आज्ञाएँ ही उसे देता है।

बौद्धिक आज्ञा-पालन के द्वारा तुम अपने सभी संस्कारों को विनष्ट कर सकते हो

**शाब्दिक आज्ञा-पालन**

किन्तु शर्त यह है कि उनके आदेशों का ठीक-ठीक आशय समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में तुम्हें सरल हृदय होने की जरूरत है। किन्तु शाब्दिक आज्ञा-पालन के द्वारा फल-प्राप्ति अधिक शीघ्र होती है। अपने मानव-प्रेम की प्रेरणा से गुरु-शिष्य में चट्टान की तरह अचल श्रद्धा तथा अगाध भक्ति उत्पन्न करता है। परिणामतः प्रेम के वशीभूत होकर शिष्य गुरु की आज्ञाओं का शब्दशः या अक्षरशः पालन करता है। गुरु के तेजो मण्डल की दिव्य दीप्ति तथा पवित्रता एवम् करुणा की विमल कान्ति शिष्य में कभी विचलित न होने वाली श्रद्धा पैदा कर देती है। यही कारण है कि वह बिना तर्क-वितर्क के गुरु की आज्ञाओं का पालन करने के लिए तैयार हो जाता है—चाहे वे आज्ञाएँ उसकी आलोचक बुद्धि को तुष्ट करें या न करें। ऐसे शाब्दिक आज्ञा-पालन को इस बात की आवश्यकता नहीं रहती कि गुरु आज्ञाओं का यथार्थ अर्थ शिष्य के लिए बुद्धि गम्य होना ही चाहिए। यह सर्वोत्कृष्ट कोटि का आज्ञा-पालन है। ऐसे ही आज्ञा-पालन की तुम्हें आकांक्षा करनी चाहिए। ऐसे अवितर्क तथा प्रश्न-शून्य आज्ञा-पालन के द्वारा तुम्हारी वक्र इच्छाएँ तथा कुटिल संस्कार ग्रन्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। ऐसे संशय रहित आज्ञा पालन से ही गुरु और शिष्य के बीच में गहरा सम्बन्ध स्थापित होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि शिष्य में आध्यात्मिक विवेक और बल की अबाध एवम् अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है। इस अवस्था में शिष्य गुरु का आध्यात्मिक पुत्र बन जाता है। उचित समय में वह अपने समस्त सांस्कारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा वह स्वयं गुरु बन जाता है।

**सद्गुरु का कार्य**

सद्गुरु या सिद्धगुरु का पद अनुपम होता है तथा उसकी शक्ति अद्वितीय होती है। संसार में ऐसे अनेक आत्मा हैं जो आध्यात्मिकता में न्यूनाधिक बढ़े चढ़े हैं किन्तु चेतना के छहों अभ्यन्तर क्षेत्रों का अतिक्रमण करके सत्, चित् तथा आनन्द के अनन्त उद्गम-स्थान से एकाकार हो चुकने वाले सद्गुरु बहुत थोड़े हैं। सद्गुरु न केवल चेतना की विभिन्न भूमिकाओं का अनुभव प्राप्त कर चुका होता है किन्तु अनन्त से युक्त हो जाने के सबब वह तो समस्त आत्माओं के अस्तित्व में ही व्याप्त हो जाता है। वह सार्वलौकिक क्रियाओं के केन्द्र में स्थित-विवर्तनशील है। एक अर्थ में तुम्हारे समग्र कार्य और विचार तुम्हारे सुख और दुःख, तुम्हारे क्रोध और क्षोभ तुम्हारी प्रबलता और दुर्बलता तुम्हारे संग्रह तथा विसर्जन एवम् तुम्हारे प्रेम और लालसा इत्यादि का वह आदि हेतु है। वह केवल सर्वव्यापक ही नहीं है किन्तु वह कार्य-कारण के पार्थिव नियम का तथा वैयक्तिक आत्माओं के संस्कारों की जटिल क्रिया पद्धति का पूर्ण वेत्ता है। व्यक्तियों के सुख या दुःख, सत्कर्म या दुष्कर्म के कारण उसे विदित रहते हैं। पार्थिव परिवर्तन, उथल-पुथल युद्ध तथा क्रान्ति के कारण भी उससे छिपे नहीं रहते। उसकी सर्वगत चेतना के उज्ज्वल एवं अनन्त प्रकाश के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वस्तु एक खुली पुस्तक है। अनन्त से एकता प्राप्त कर चुकने के सबब वह असीम-शक्ति-सम्पन्न है और निमेष मात्र में ही वह आत्मा के संस्कारों को छिन्नमूल कर सकता है और उसे समस्त बन्धनों और पाशों से मुक्त कर सकता है। ★

# कर्त्तव्य-पालन से मुक्ति

श्री जयदयाल गोयन्दका

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने महात्मा हारिद्रुमत गौतम की आज्ञा का पालन किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि जो बात गुरुजी ने कही है, उसका अक्षरशः पालन करना चाहिये। वह अपना कर्त्तव्य समझकर उसके पालन के लिये तत्पर हो गया और मन लगाकर उसने यह कार्य किया। गौओं की सेवा करते-करते ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी। गुरु ने चार सौ दुर्बल गौएँ अलग निकाल कर उससे कहा था कि तू इन गौओं के पीछे जा और इनकी सेवा कर। कितने आश्चर्य की बात है। देखने में तो यह कोई ब्रह्म की प्राप्ति का साधन नहीं है। वह तो आया था गुरु की सेवा में परमात्मा की प्राप्ति के लिए और गुरु ने कह दिया कि तुम गौओं के पीछे जाओ। पर उसको यह दृढ़ विश्वास था कि गुरु की आज्ञा का पालन करने से परमात्मा की प्राप्ति अपने आप अवश्य होगी। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, मेरे कल्याण के लिए ही कहते हैं। उसको यह पूरा निश्चय था। नहीं तो, वह इस प्रकार कैसे करता। उसका परिणाम भी परम कल्याणकारी हुआ। उसे परमात्मा की प्राप्ति हो गई और आगे चलकर वह भी एक उच्च कोटि का आचार्य बन गया। उसके पास भी विद्यार्थी लोग शिक्षा लेने के लिये आने लगे। उसको यह विश्वास था कि जैसे मुझको अपने आप ही गुरु की कृपा से परमात्मा की प्राप्ति हो गई, इसी प्रकार मेरे समीप रहने वालों को भी हो जानी चाहिये।

उपकोसल नाम का उसका एक शिष्य था। उसको गुरु की तथा अग्नियों की सेवा करते-करते बारह वर्ष बीत गये, किन्तु आचार्य ने अन्य ब्रह्मचारियों को तो समावर्तन संस्कार करके विदा कर दिया, केवल उसी को नहीं किया। तब एक दिन सत्यकाम से उनकी धर्मपत्नी ने कहा—'स्वामिन्! यह ब्रह्मचारी बड़ी तपस्या कर चुका है। इसने आपकी और अग्नियों की भी भली-भाँति सेवा की है। अतः इसे ब्रह्म का उपदेश करना चाहिये।' परन्तु सत्यकाम उसे उपदेश दिये बिना ही बाहर वन की ओर चले गये; क्योंकि उनको यह पूरा विश्वास था कि 'यह श्रद्धालु है और कर्त्तव्य का पालन कर रहा है, इसलिये इसे अपने-आप ही निश्चय ब्रह्म की प्राप्ति हो जायगी।' पत्नी के अनुरोध करने पर भी वे अपने निश्चय पर डटे रहे, और ब्रह्म का उपदेश दिये बिना ही चले गये। इससे उपकोसल ने अपने-आपको अयोग्य समझा और दुःखी होकर यह निश्चय किया कि जब तक मुझे गुरुजी ब्रह्म का उपदेश नहीं देंगे, तब तक मैं उपवास रक्खूँगा। तदनन्तर, गुरुपत्नी ने उससे भोजन के लिये आग्रह किया, किन्तु उसने मानसिक व्याधि बताकर भोजन नहीं किया।

अग्निशाला में तीन कुण्डों में तीन अग्नियाँ होती हैं—(१) गार्हपत्याग्नि, (२) दक्षिणाग्नि, (३) आहवनीयाग्नि। जिसमें नित्य हवन किया जाता है, उसका नाम आहवनीय अग्नि है। पूर्णमासी तथा अमावस्या के दिन जिसमें

हवन किया जाता है, वह दक्षिणाग्नि है और जिसमें बलिवैश्वदेव किया जाता है, वह गार्हपत्याग्नि है। गार्हपत्याग्नि का मतलब है कि जिससे गृहस्थ का काम चले। जब मनुष्य का विवाह होता है, तब विवाह में हवन की अग्नि श्वसुर के यहाँ से लायी जाती है और जीवनपर्यन्त उसमें वह बलिवैश्वदेव करता रहता है तथा मरने के बाद उसी अग्नि में उसकी दाह-क्रिया—अन्त्येष्टि-क्रिया होती है। विवाह से लेकर मरणपर्यन्त वह अग्नि अटल रहती है, उसे निरन्तर कायम रखा जाता है।

वे तीनों अग्नियाँ अग्निशाला में हवन-कुण्ड से प्रकट हुईं और आपस में उनकी इस प्रकार बातें होने लगीं कि यह उपकोसल नामक लड़का गुरु की, गुरुपत्नी की और हमलोगों की बड़ी भारी सेवा करता है। इस-लिये इसको हमलोग ब्रह्म का उपदेश करें। फिर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नियों ने क्रमशः उसे ब्रह्म का उपदेश दिया जिससे उसे ब्रह्म का ज्ञान हो गया।

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् गुरु-जी भी वन से लौटकर आये। गुरुजी ने उप-कोसल से कहा—'तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता के समान प्रसन्न जान पड़ता है, तुझे किसने ब्रह्म का उपदेश किया है?' उपकोसल ने अंगुलियों से अग्नियों की ओर संकेत करके बतलाया कि 'इन अग्नियों ने मुझको उपदेश दिया है।' सत्यकाम ने पूछा—'उन्होंने क्या उपदेश दिया?' उपकोसल ने, अग्नियों ने ब्रह्म-विषयक जो कुछ उपदेश दिया था, वह ज्यों-का-त्यों सुना दिया और कहा कि 'अब कृपया आप बतलाइये।' इस पर सत्यकाम ने उसे विस्तार के साथ ब्रह्म का उपदेश दिया।

सत्यकाम के हृदय में कितना दृढ़ विश्वास था कि निश्चय ही उसे अपने-आप ही ब्रह्म की प्राप्ति होगी। यह दृढ़ विश्वास इसलिये था कि कि उन्हें स्वयं इसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति हुई थी। इससे हम लोगों को समझना चाहिए कि मनुष्य जब अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है, तब एक दिन अवश्य ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये सत्यकाम का यह उदाहरण आदर्श है। सत्यकाम के गुरुजी महापुरुष थे, उनकी कृपा से सत्यकाम को परमात्मा की प्राप्ति हो गयी और महात्मा सत्यकाम की सेवा करने पर उनकी कृपा से उपकोसल को परमात्मा की प्राप्ति हो गयी।

जो साधक महापुरुषों की आज्ञा के अनु-सार अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है, उसको उनकी कृपा से निश्चय ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। फिर जो भगवान् की आज्ञा के अनुसार अनन्यशरण होकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका कल्याण होने में तो कहना ही क्या है।

भक्त प्रह्लाद निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करते रहे। उन्होंने कभी दर्शन देने के लिए भी भगवान् से प्रार्थना नहीं की। उन पर भारी-से-भारी अत्याचार होते रहे, किन्तु उन्होंने कभी अपने कर्तव्य-पालन से मुँह नहीं मोड़ा। इस प्रकार करते-करते एक दिन वह आया जबकि स्वयं भग-वान् ने नृसिंह रूप में प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और प्रह्लाद से कहा—

**क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्**
**क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।**
**आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं**
**क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥**

'प्रिय वत्स ! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त दैत्य के द्वारा की हुई तुझ पर दारुण यातनाएँ ! अहो ! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसङ्ग देखने में आया ! मुझे आने में यदि देर हो गयी हो तो तू मुझे क्षमा कर ।'

यह सुनकर प्रह्लाद जी लज्जित हो गये और बोले—'महाराज ! आप यह क्या कहते हैं !' उसके बाद भगवान् नृसिंह प्रह्लाद से बोले कि 'तेरी इच्छा हो सो वरदान माँग ।' इस पर प्रह्लाद ने कहा—'प्रभो ! मैं जन्म से ही विषयभोगों में आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरों के द्वारा आप लुभाइये नहीं । मैं उन भोगों से भयभीत होकर—उनसे निर्विण्ण होकर उनसे छूटने की इच्छा से ही आपकी शरण में आया हूँ । भगवन् ! मुझ में भक्त के लक्षण हैं या नहीं, यह जानने के लिये आपने अपने भक्त को वरदान माँगने की ओर प्रेरित किया है । ये विषय भोग हृदय की गाँठ को और भी मजबूत करने वाले तथा बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले हैं । जगद्गुरो ! परीक्षा के सिवा ऐसा कहने का और कोई कारण नहीं दीखता, क्योंकि आप परम दयालु हैं । आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करने वाला बनिया है । जो स्वामी से अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवक से सेवा कराने के लिये ही, उसका स्वामी बनने के लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है । मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं । जैसे राजा और उसके सेवकों का प्रयोजन वश स्वामी-सेवक का सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं । मेरे स्वामी ! यदि आप मुझे मुँह माँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो ।'

यह है निष्कामभाव ! निष्काम का स्तर सबसे ऊँचा है । फिर भी हम भगवान् में आत्मा के कल्याण के लिये, परमात्मा के दर्शन के लिये, भगवान् में प्रेम होने के लिये स्तुति-प्रार्थना करें, तो वह कामना शुद्ध होने के कारण निष्काम ही है ।

---

★ परमात्मा के अनेक नाम और अनेक रूप हैं । जिस नाम से और जिस रूप से हमारा जी चाहे, उसी नाम और उसी स्वरूप से हम उसे देख सकते हैं ।

\+ \+ \+

★ पारस-पत्थर के स्पर्श से लोहा एक बार जब सोना बन जाता है, तब उसे चाहे जमीन में गाड़ दो अथवा कतवार में फेंक दो, वह सोना ही बना रहता है, फिर लोहा नहीं होता; उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा के चरण-स्पर्श से जिसका हृदय एक बार पवित्र हो जाता है, उसका फिर कुछ नहीं बिगड़ सकता, वह संसार के कोलाहल में रहे अथवा जंगल में एकान्त-वास करे ।

—रामकृष्ण परमहंस

# सन्त-महिमा

## सन्तभाव की प्राप्ति भगवत्प्राप्ति से होती है

संसार में सन्तों का स्थान सबसे ऊँचा है। देवता और मनुष्य राजा और प्रजा—सभी सन्तों को अपने से बढ़कर मानते हैं। सन्त का ही जीवन सार्थक होता है। अतएव सभी लोगों को सन्तभाव की प्राप्ति के लिये भगवान् की शरण होना चाहिये। यहाँ एक प्रश्न होता है कि सन्तभाव की प्राप्ति प्रयत्न होती है या भगवत् कृपा से अथवा दोनों से?' यदि यह कहा जाय कि वह केवल प्रयत्न साध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके सन्त क्यों नहीं बन जाते? यदि कहें कि भगवत्कृपा से होती है तो भगवत्कृपा सदा सब पर अपरिमित है ही, फिर सब को सन्तभाव की प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? दोनों से कही जाय तो फिर भगवत्कृपा का महत्त्व ही क्या रह गया, क्योंकि दूसरे प्रयत्नों के सहारे बिना केवल उससे भगवत्प्राप्ति हुई नहीं! इसका यह है कि भगवत्प्राप्ति यानी सन्तभाव की प्राप्ति भगवत्प्राप्ति से ही होती है। वास्तव में भगवत्प्राप्त पुरुषों को ही सन्त कहा जाता है। 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्मा के यथार्थ तत्त्व को जो जानता है और जो उसे उपलब्ध कर चुका है, वही सन्त है। हाँ, गौणी वृत्ति से उन्हें भी सन्त कह सकते हैं जो भगवत्प्राप्ति के पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत्प्राप्ति लक्ष्य के समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र ही उन्हें भगवत्प्राप्ति की सम्भावना है।

इस पर यह शंका होती है कि जब परमात्मा की कृपा सभी पर है, तब सभी को परमात्मा की प्राप्ति हो जानी चाहिये; परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यदि परमात्मा की प्राप्ति की तीव्र चाह हो और भगवत्कृपा में विश्वास हो तो सभी को प्राप्ति हो सकती है। परन्तु परमात्मा की प्राप्ति चाहते ही कितने मनुष्य हैं, तथा परमात्मा की कृपा पर विश्वास ही कितनों को है? जो चाहते हैं और जिनका विश्वास है, उन्हें प्राप्ति होती ही है। यदि यह कहा जाय कि परमात्मा की प्राप्ति तो सभी चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं है, ऐसी चाह वास्तविक चाह नहीं है। हम देखते हैं जिसको धन की चाह होती है, वह धन के लिये सब कुछ करने तथा इतर सबका त्याग करने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार की भगवत्प्राप्ति की तीव्र चाह कितनों को है? धन तो चाहने पर भी प्रारब्ध में होता है तभी मिलता है, प्रारब्ध में नहीं होता तो नहीं मिलता। परन्तु भगवान् तो चाहने पर अवश्य मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् धन की भाँति जड़ नहीं हैं। जब धन हमारी चाह के बदले में वैसी चाह नहीं कर सकता। परन्तु

भगवान् तो जो उनको चाहता है, उसको स्वयं चाहते हैं, और यह निश्चित सत्य है कि भगवान् की चाह कभी निष्फल नहीं होती, वह अमोघ होती है। अतएव भगवान् की चाह से बिना ही प्रयत्न किये भक्त की चाह अपने आप पूर्ण हो जाती है। पर इतना स्मरण रखना चाहिये कि भक्त के चाहने पर ही भगवान् उसे चाहते हैं। यदि यह कहें कि भक्त के बिना चाहे भगवान् क्यों नहीं चाहते? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् में वस्तुतः 'चाह' है ही नहीं, भक्त की चाह से ही उनमें चाह पैदा होती है। इस पर यह शंका है कि जब भक्त की चाह से ही भगवान् में चाह होकर भगवान् मिलते हैं, तब केवल भगवद्-कृपा की प्रधानता कहाँ रही? चाह भी तो एक प्रयत्न ही है? इसका उत्तर यह है कि भगवान् को प्राप्त करने की इच्छामात्र को प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। और यदि इसी को प्रयत्न मानें तो इतना प्रयत्न तो अवश्य ही करना पड़ता है। परन्तु ध्यान देकर देखने से मालूम होगा कि इच्छा करने मात्र से प्राप्त होने वाले एक श्रीभगवान् ही हैं। दुनिया में लोग नाना प्रकार के पदार्थ की इच्छा करते हैं, परन्तु इच्छा करने से ही उन्हें कुछ नहीं मिलता। इच्छा हो, प्रारब्ध का संयोग हो और फिर प्रयत्न हो, तब भौतिक पदार्थ मिलता है, पर भगवान् के लिये तो इच्छामात्र से ही काम हो जाता है। इच्छा करने पर जो प्रयत्न होता है, वह प्रयत्न तो भगवान् स्वयं करा लेते हैं। साधक तो केवल निमित्त बनता है। अर्जुन से भगवान् ने कहा—'ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।' (गीता ११/३३) इसी प्रकार अपनी प्राप्तिरूप कार्य की सिद्धि में भी सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं। इच्छा करने वाले भक्तों को केवल निमित्त-मात्र बनाते हैं। जो लोग भगवत्प्राप्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से सिद्ध होने वाली मानते हैं, उनको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देते। हाँ, उन्हें बड़ी कठिनाई से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है; परन्तु उसमें भी गुरु की शरण तो ग्रहण करनी ही पड़ती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**

(गीता ४/३४)

'उस ज्ञान को तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ आचार्य के पास जाकर उनको भली-भाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से परमात्मा को भलीभाँति जानने वाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

श्रुति कहती है—

**उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**
**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**
**दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।**

(कठ० १/३/१४)

उठो, जागो और महान् पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्व-ज्ञानी लोग उस पथ को भी वैसा ही दुर्गम बताते हैं।

भगवत्प्राप्ति में केवल अपना पुरुषार्थ मानने का कारण अहङ्कार-रूपी दोष है। भक्त के इस अहङ्कार-दोष को नष्ट करने के लिये भगवान् उसे भीषण संकट में डालकर यह बात प्रत्यक्ष दिखला देते हैं कि कार्यसिद्धि में अपनी सामर्थ्य मानना मनुष्य की एक बड़ी गलती है। इस प्रकार अहङ्कार-नाश के लिये जो विपत्ति में डालना है, यह भी भगवान् की विशेष कृपा है। केनोपनिषद् में एक कथा है—इन्द्र, अग्नि, वायु देवों ने विजय में अपने पुरुषार्थ को कारण समझा, इसलिये उन्हें गर्व हो गया। तब भगवान् ने उन पर कृपा करके यक्ष के रूप में अपना परिचय दिया और उनके गर्व का नाश किया। जब अग्नि, वायु, देवता परास्त हो गये और यह समझ गये कि हमारे अन्दर वस्तुतः कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, तब भगवान् ने दया करके उमा के द्वारा इन्द्र को अपना यथार्थ परिचय दिया। सफलता में अपना पुरुषार्थ मानकर मनुष्य गर्व करता है, परन्तु अनिवार्य विपत्ति में जब वह अपने पुरुषार्थ से निराश हो जाता है तब निरुपाय होकर भगवान् के शरण जाता है और आर्त होकर पुकार उठता है—'नाथ! मुझे इस घोर संकट से बचाइये। मैं जो अपने बल से अपना उद्धार मानता था, वह मेरी भारी भूल थी। राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओं के दबाने से अब मुझे इस बात का पूरा पता लग गया कि आपकी कृपा के बिना मेरे लिये इनसे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव-सा है।' जब अहंकार छोड़कर इस तरह सरल भाव से और सच्चे हृदय से मनुष्य भगवान् के शरण हो जाता है, तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और आश्वासन देते हैं, क्योंकि भगवान् की यह घोषणा है—

**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥**

(वा० रा० ६/१८/३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर कहता है, 'मैं तुम्हारा हूँ, (तुम मुझे अपना लो) मैं उसे सब भूतों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इस पर भी मनुष्य उनके शरण होकर अपना कल्याण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्य की बात है!

दयासागर भगवान् की जीवों पर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें दयासागर कहना भी उनकी स्तुति के व्याज से निन्दा ही करना है। क्योंकि सागर तो सीमा वाला है, परन्तु भगवान् की दया की तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान् की दया की जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जिसके द्वारा भगवान की दया का स्वरूप समझाया जा सके। माता का उदाहरण दें तो उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनिया में असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओं से होती है, उन सारी माताओं के हृदयों में अपने पुत्रों पर जो दया का स्नेह है, वह सब मिलकर भी उस दयासागर की दया के एक बूंद के बराबर भी नहीं है। ऐसी हालत में और किससे तुलना की जाय? तो भी माता का

उदाहरण इसलिये दिया जाता है कि लोक में जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चों के लिए जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रिया में दया भरी रहती है। इस बात का बच्चे को कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्था में भी बच्चा माता के ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा ?' वह रोता हुआ कहता है 'माँ ने'। इस पर वे कहते हैं 'तो आइन्दा उसके पास नहीं जाना।' परन्तु वह उनकी बात पर ध्यान न देकर रोता है और माता के पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बात का उस पर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बात की परवा न करके अपने सरल भाव से माता के ही पास जाना चाहता है। रोता है, परन्तु चाहता है माता को ही। जब माता उसे हृदय से लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शांत होता है। इस प्रकार माता की दया पर विश्वास करने वाले बच्चे की भाँति जो भगवान् की दया-तत्त्व को जान लेता है और भगवान् की मार पर ही भगवान् को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदय से लगा लेते हैं। फिर जो भगवान् की कृपा को विशेष रूप से जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है ?

लड़का नीचे के तल्ले से ऊपर के तल्ले पर जब चढ़ना चाहता है तो माँ उसे सीढ़ियों के पास लेजाकर चढ़ने के लिये उत्साहित करती है। कहती है—बेटा! चढ़ो, गिरोगे नहीं, मैं साथ हूँ न ? लो, मैं हाथ पकड़ती हूँ।' यों साहस और आश्वासन देकर उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ाती है; पूरा खयाल रखती है, कहीं गिर न जाय; जरा-सा भी डिगता है तो तुरन्त हाथ का सहारा देकर थाम लेती और चढ़ा देती है; बच्चा जब चढ़ने में कठिनाई का अनुभव करता है, तब माँ की ओर ताककर मानो इशारे से माँ की मदद चाहता है। माँ उसी क्षण उसे अवलम्बन देकर चढ़ा देती है और पुनः उत्साह दिलाती है। बच्चा कहीं फिसल जाता है तो माँ तुरन्त उसे गोद में उठा लेती है, गिरने नहीं देती। इसी प्रकार जो पुरुष बच्चे की भाँति भगवान् पर भरोसा (निर्भर) करता है, भगवान् उसकी उन्नति और रक्षा की व्यवस्था स्वयं करते हैं, उसे तो केवल निमित्त बनाते हैं। सांसारिक माता तो कदाचित् असावधानी और सामर्थ्य के अभाव से या भ्रम से गिरते हुए बच्चे को न भी बचा सके, परन्तु वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परमदयालु, सर्वज्ञ प्रभु तो अपने आश्रित को कभी गिरने देते ही नहीं। वरन् उत्तरोत्तर उसे सहायता देते हुए, एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए सबसे ऊपर के तल्ले पर, जहाँ पहुँचाना ही जीवन का अन्तिम ध्येय है, पहुँचा ही देते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न भगवान् ही करते हैं, भक्त को तो केवल इच्छा करनी पड़ती है और उसीसे भगवान उसे निमित्त बना देते हैं। बच्चा कभी अभिमानवश यह सोचता है कि मैं अपने ही पुरुषार्थ से चढ़ता हूँ, तब माता कुछ दूर हटकर कहती है 'अच्छा चढ़ो।' परन्तु सहारा न पाने से वह चढ़ नहीं सकता। गिरने लगता है और रोता है, तब माता दौड़कर उसे बचाती है। इसी प्रकार अपने प्रयत्न का अभिमान करने वाला

भी गिर सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे, भगवान की कृपा का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मनुष्य सब कुछ छोड़कर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाय, कुछ भी न करे। ऐसा मानना तो प्रभु की कृपा का दुरुपयोग करना है। जब माता बच्चे को ऊपर चढ़ाती है, तब सारा कार्य माता ही करती है, परन्तु बच्चे को माता की आज्ञानुसार चेष्टा तो करनी ही पड़ती है। जो बच्चा माँ की इच्छानुसार चेष्टा नहीं करता या उससे विपरीत करता है, उसकी माता उसके हितार्थ डराती धमकाती है तथा कभी-कभी मारती भी है।

इस मार में भी माँ के हृदय का प्यार भरा रहता है, यह भी उसकी परम दयालुता है। इसी प्रकार भगवान भी दया परवश होकर समय-समय हमको चेतावनी देते हैं। मतलब यह है कि जैसे बच्चा अपने को और अपनी सारी क्रियाओं को माता के प्रति सौंपकर मातृ-परायण होता है, इसी प्रकार हमें भी अपने-आपको और अपनी सारी क्रियाओं को परमात्मा के हाथों में सौंपकर उनके चरणों में पड़ जाना चाहिये। इस प्रकार बच्चे की तरह परम श्रद्धा और विश्वास के साथ जो अपने आपको परमात्मा की गोद में सौंप देता है, वही पुरुष परमात्मा की कृपा का इच्छुक और पात्र समझा जाता है और उसके फलस्वरूप वह परमात्मा की दया से परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। सारांश यह है कि परमात्मा की प्राप्ति परमात्मा की दया से ही होती है; दया ही एकमात्र कारण है। परन्तु यह दया मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बना देती। परमात्मा की दया से ही ऐसा परम पुरुषार्थ बनता है। जीव का अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, वह तो निमित्त-मात्र होता है।

(तत्त्व चिन्तामणि से साभार)

## शिव भक्ति की महिमा

वही जिह्वा सफल है, जो भगवान शिव की स्तुति करती है। वही मन सार्थक है, जो शिव के ध्यान में संलग्न होता है। वे ही कान सफल हैं, जो भगवान शिव की कथा सुनने के लिये उत्सुक रहते हैं और वे ही दोनों हाथ सार्थक हैं, जो शिवजी की पूजा करते हैं। वे नेत्र धन्य हैं, जो महादेव जी का दर्शन करते हैं। वह मस्तक धन्य है, जो शिव के सामने झुक जाता है। वे पैर धन्य हैं, जो भक्तिपूर्वक शिव के क्षेत्र में सदा भ्रमण करते हैं। जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवान शिव के कार्यों में लगी रहती हैं, वह संसार सागर के पार हो जाता है और भोग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। शिव की भक्ति से युक्त मनुष्य चाण्डाल, पुल्कस, नारी, पुरुष अथवा नपुंसक—कोई भी क्यों न हो, तत्काल संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(स्कन्द० पु० ब्रा० ब्रह्मो० ४/७-१०)

**आश्रम समाचार (सहारनपुर)—**

# श्री गुरुपूर्णिमा उत्सव

श्री गुरुपूर्णिमा महापर्व अन्य स्थानों के साथ-साथ सहारनपुर में भी बहुत धूमधाम से मनाया गया। मुख्य समारोह महाप्रभु श्री चन्द्रमोहन सिद्धयोग सत्सङ्ग सभा के तत्वावधान में मोहल्ला कायस्थान में मनाया गया।

श्री गुरुपूर्णिमा के दिन प्रातःकाल से ही सहारनपुर के आस-पास के क्षेत्रों में रहने वाले गुरुभाई-बहिन प्रोग्राम स्थल पर पहुँचने शुरू हो गये थे जहाँ पर पहले से ही सत्सङ्ग संकीर्तन बहुत धूमधाम से चल रहा था। श्री महाप्रभु जी के जयकारों व ध्वनियों से वातावरण गूँज रहा था। संकीर्तन के पश्चात् दिल्ली से पधारे श्री सद्गुरुदेव जी के योग्यतम शिष्य योगाचार्य श्री चन्द्रहास जी द्वारा उपस्थित समाज को गुरुपूर्णिमा का महत्व बहुत ही मनोरम ढङ्ग से समझाया गया। इसके पश्चात् करुणानिधान श्री सद्गुरुदेव जी का पूजन प्रारम्भ हुआ। सभी गुरुभाई-बहिन व नवीन श्रद्धालु जन पंक्तिवद्ध होकर बारी-बारी से श्री गुरुपूजन करते रहे। महाप्रभु श्री रामलाल जी व सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी के श्रीविग्रह-पूजन सामिग्री से आच्छादित दिखाई पड़ रहे थे। इसके पश्चात् श्री सद्गुरुदेव जी की आरती प्रारम्भ हुई। आरती के पश्चात् भण्डारे में सभी भक्तजन प्रेमपूर्वक भोजन करते रहे। सायंकाल में सत्सङ्ग कीर्तन प्रातःकाल की भाँति ही धूमधाम से किया गया। उसके बाद आचार्य जी द्वारा श्री सद्गुरुदेव जी के दिव्य चरित्रों का मनोहारी वर्णन किया गया फिर रात्रि में आरती के पश्चात् उत्सव सम्पन्न हुआ।

श्री योग साधन आश्रम ऋषिकेश व महाप्रभु श्री रामलाल योग मन्दिर, सहारनपुर एवं परमयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन प्रभु योग प्रचार आश्रम, सहारनपुर पर भी श्री गुरुपूर्णिमा उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

—श्री अवनीश कुमार भटनागर
सहारनपुर

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. SEPTEMBER 1996

प्रेषक कार्यालय :—

# सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ......................................

......................................

......................................

......................................

## ब्रह्म तत् त्वमसि

जाति-नीति-कुल-गोत्र-दूरगं, नाम-रूप गुण-दोष-वर्जितम्।
देश-काल-विषयातिवर्ति यद्, ब्रह्म तत् त्वमसि भावयात्मनि॥

अर्थात्

जो ब्रह्म जाति, नीति, कुल, गोत्र से रहित है। जिसका न नाम है, न रूप; न गुण है, न दोष; देश-काल और विषय इन सबसे जो परे, श्रेष्ठ है। वह ब्रह्म तू है, ऐसी अपने हृदय में पक्की भावना करो।

—गुरु बोध-सार से साभार

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 330426